वर्ष ४०] * * * [अङ्क

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृ...

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०२२, मार्च १९६६

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पैसे
विदेशमें ५६ पैसे
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
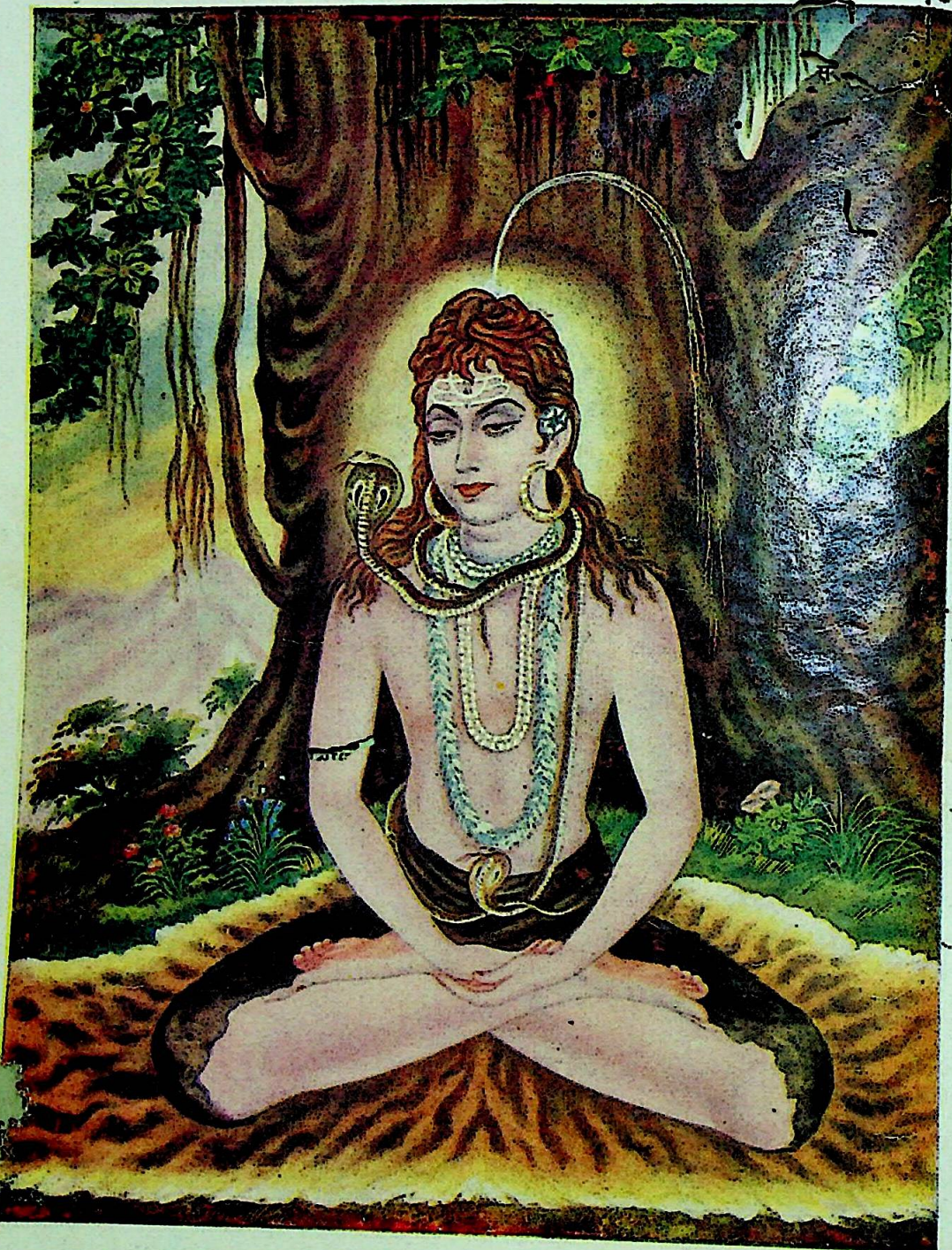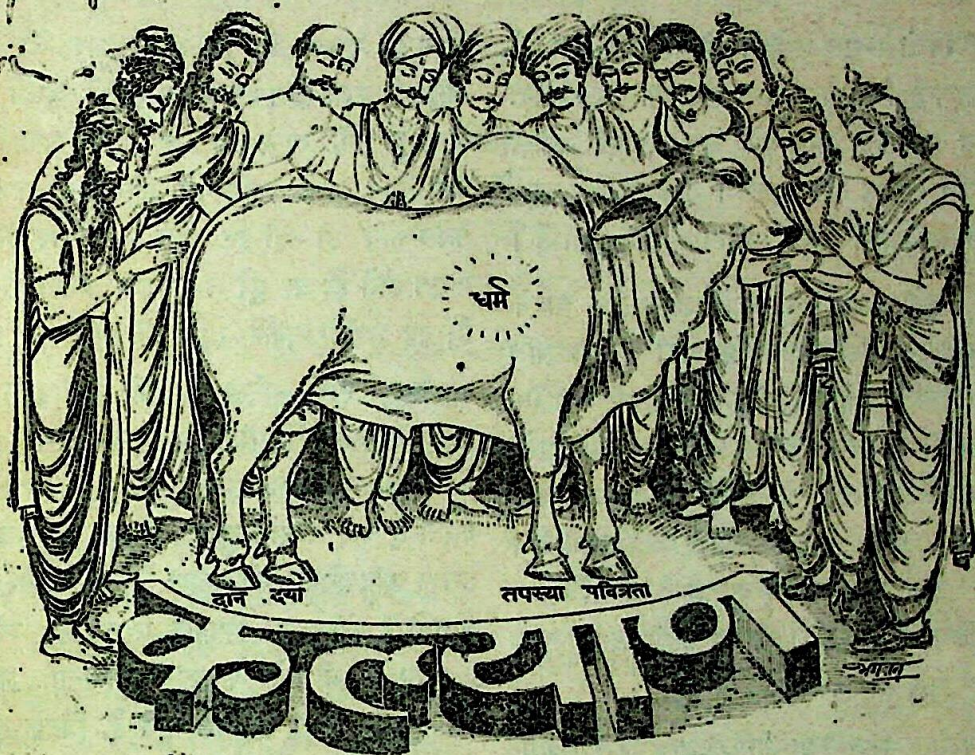
ध्यानमय भगवान् शिव

लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषपत्रपुत्रैर्महर्षिराजर्षिभिर्विद्वद्भिरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० } गोरखपुर, सौर चैत्र २०२२, मार्च १९६६ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४७२

ध्यानमय भगवान् शिव

नित्य सच्चिदानन्द सदाशिव भालचन्द्र शुचि सौम्य सुरूप ।
सर्प-रत्न-मणि कुसुम-माल-मण्डित-गल, पिङ्गल जटा अनूप ॥
नेत्रत्रय, त्रिपुण्ड्र शोभित, कटि-भुजग, हरण मन्मथ मद-गर्व ।
ऋक्ष-चर्म-परिधान ध्यानमय वनतरु तले सुशोभित शर्व ॥

याद रक्खो—सुख चाहते हो पर पाते नहीं हो, इसका कारण है चित्तकी अनवरत अशान्ति और अशान्तिका प्रधान कारण है भगवान्‌में अविश्वास एवं अनास्था तथा भोगोंमें विश्वास और आस्था। भोग प्राकृतिक पदार्थ हैं, जो स्वाभाविक ही अपूर्ण, अनित्य और विनाशी हैं।

याद रक्खो—प्राकृतिक भोगोंसे शान्ति-सुख चाहनेवाला किसी भी स्थितिमें संतुष्ट नहीं हो सकता। आवश्यक प्राकृतिक भोग-पदार्थोंके अभावमें तो अशान्ति-दुःख होता ही है, परंतु ज्यों-ज्यों प्राकृतिक भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों भोगोंकी आवश्यकता, उन्हें प्राप्त करनेकी कामना—इच्छा बढ़ती चली जाती है। इतनी अनावश्यक आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं कि मनुष्य क्षणभरके लिये भी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। शान्ति बिना सुख होनेका नहीं।

याद रक्खो—जितनी ही भोगोंकी आवश्यकता बढ़ती है, उतनी ही उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा तथा चेष्टा होती है और भोग-कामनासे मनुष्यका विवेक ढक जाता है। तब वह विवेकभ्रष्ट होकर सहस्रों पथोंसे तथा बड़ी तीव्र गतिसे अधःपतनकी ओर जाता है।

याद रक्खो—विवेक-भ्रष्ट मनुष्य परिणामको भूल जाता है; किसका क्या फल होगा, यह सोचनेकी उसकी [illegible]द्धिमें शक्ति नहीं रह जाती; वह सहज ही उन [illegible]ष्कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है, जिनको वह स्वयं कभी [illegible] समझता था और जो उसके जीवनको दुष्कर्ममय [illegible] हैं।

याद रक्खो—जब बुद्धि भ्रष्ट होती है तब मनुष्य-[illegible] सभी कुछ विपरीत दिखायी देने लगता है, उसकी बुरी चीजोंसे,—बुरे कामोंसे केवल घृणा ही नहीं निकल जाती, वह उन्हें अपने कार्यकी सफलताके लिये आवश्यक मानता है, वरं उनको अपनानेमें गौरवका अनुभव करता है। इस दशामें उसकी अच्छी चीजोंमें, अच्छे कामोंमें, सत्पुरुषोंके सङ्गमें, सत्-स्थानोंमें, अच्छी बातचीतमें, अच्छे अध्ययनमें और अच्छे वातावरणमें केवल रुचि ही नहीं हट जाती—ये सब उसे व्यर्थ मालूम होते हैं, वरं बुरे तथा त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं; वह अच्छे सम्पर्कमें रहना ही पसंद नहीं करता।

याद रक्खो—ऐसा अच्छेको बुरा तथा बुरेको अच्छा माननेवाला विपरीत-बुद्धि मनुष्य दुःखोंसे छूटनेके लिये अनवरत विचार करता है, कर्म करता है पर करता है वही जिससे दुःख और भी बढ़ जाते हैं। उसकी अनियन्त्रित मन-इन्द्रियाँ निरन्तर सुखकी मिथ्या आशासे दुःखोत्पादक विषयोंके सेवनमें ही लगी रहती हैं। उसके जीवनमें अन्धकार, दुश्चिन्ता, अशान्ति, अधर्म आदि बढ़ते ही चले जाते हैं, जिनके मारे वह भौतिक असफलतामें तो मृत्युसे भी बढ़कर यन्त्रणाका अनुभव करता ही है, सफलतामें भी उसकी दुष्पूरणीय भोग-कामना उसकी दुश्चिन्ता, अशान्ति, अधर्म और अधस्तरको बढ़ाती रहती है। इसी अशान्त, चिन्तामय तथा पापमय स्थितिमें उसकी आयुके दिन पूरे होते जाते हैं और वह मृत्युकालमें भी सैकड़ों-सहस्रों दुश्चिन्ताओं और दुर्भावनाओंमें फँसा हुआ बड़ी ही भयानक पीड़ाका अनुभव करता हुआ पापका बोझ साथ लिये मर जाता है।

याद रक्खो—इस प्रकार मरनेवाले जीवकी बड़ी दुर्गति होती है, उसे बार-बार दुःख-ताप तथा अज्ञानमय आसुरी योनिकी प्राप्ति होती है और तदनन्तर भीषण नरकयन्त्रणा भोगनी पड़ती है। मनुष्य-जीवनका यह परिणाम बड़ा ही भयानक तथा सर्वथा अवाञ्छनीय है।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनकी सफलता इसीमें है

कि मनुष्य मानव-जीवनके असली उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका लाभ करे—यह सारी अशान्ति, सारी चिन्ता और सारे दुःखोंसे सर्वथा छूटकर परमानन्दमय चिन्मय भगवत्-स्थितिको प्राप्त करे। यह होगा भोगोंके प्रति वैराग्य और अनास्था होनेपर तथा भगवान्में अनुराग तथा विश्वास होनेपर!

'शिव'

भगवत्प्राप्ति

(अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रायः लोग पूछा करते हैं कि क्या भगवत्प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है। ऐसा एक ही जन्ममें हो सकता है या अनेक जन्मोंमें, इसका कोई नियम नहीं है। किंतु जभी भगवान्के प्रति प्रेमका गाढ़ उदय हो जाता है, भगवान् तभी मिल जाते हैं।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

—अनेक जन्मों तक भी यदि प्रेमका संचार न हो, तो भगवान् नहीं प्राप्त होते, प्रेम प्रकट हो जानेपर भगवान् एक ही जन्ममें मिल जाते हैं। जिस समय भक्त भगवान्से मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर स्वाध्याय, ध्यान आदिको प्राप्त होता है, उस समय भगवान्को अवश्य प्रकट होना पड़ता है। आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं, तथापि भक्तप्रेम-में पराधीन होना उनका एक स्वभाव है। अनुभवी लोगोंने कहा है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥

'अहो! कोई निर्गुण निर्विकार ब्रह्मको, कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं, परंतु मैं तो उस प्रेमबन्धन-को भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला, स्वयं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म भक्तों-का खिलौना बन जाता है।' जिस समय भक्त भगवान्-के बिना न रह सके, उस समय भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते। जैसे पंखरहित पतंग-शावक अपनी माँको पानेके लिये व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँका दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेयसी विषण्ण होती है, हे कमलनयन! मेरा मन आपको देखनेके लिये वैसे ही उत्कण्ठित होता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भागवत ६। ११। २६)

इस प्रकारकी सोत्कण्ठ भक्त-प्रार्थनासे भगवान् द्रुत होकर भक्तसे मिलनेको दौड़ पड़ते हैं।

हाँ, यह ठीक है कि भगवत्सम्मिलनकी ऐसी उत्कण्ठा सरल नहीं है; किंतु जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरोंके पुण्यपुञ्जसे ही भगवान्में उत्कट प्रीति प्राप्त होती है। इसलिये उपनिषदोंने कहा है कि ब्राह्मणादि अधिकारी लोग यज्ञ, तप, दान और अनशनादि सत्कर्मोंसे उन परम तत्त्व भगवान्को जाननेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करते हैं—

तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति।

जब उस परम तत्त्वकी जिज्ञासा ही उत्पन्न करनेमें अनेक जन्मोंके सत्कर्मोंकी अपेक्षा होती है, तब स्पष्ट है कि जिसे भगवत्सम्मिलनकी उत्कट कामना है, जिसे भगवान्के न मिलनेसे महती व्याकुलता है, वह केवल इसी जन्मका सत्कर्मी नहीं, अपितु पहले जन्मोंसे भी

उसका इस सम्बन्धमें प्रयत्न चल रहा है। इस दृष्टिसे ध्रुवकी जन्मान्तरीय तपस्याओं तथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

—इत्यादि वचनोंकी संगति लग जाती है। प्रेमके उत्कट हो जानेपर उसी क्षण भगवान्का दर्शन होता है। फूल तोड़नेमें विलम्ब हो सकता है, किंतु उस समय भगवान्के मिलनेमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं होता। भगवान् प्राणियोंके अन्तरात्मा, सर्वसाक्षी हैं, उनको पानेमें कौन कठिनाई ?—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।

—इत्यादि बातोंकी भी संगति लगती है। भगवत्प्राप्तिमें अत्यन्त प्रयत्न करनेकी अपेक्षा बतलानेके लिये शास्त्रोंने भगवान्को अत्यन्त दुर्लभ कहा है; निराशा मिटाकर उत्साह बढ़ानेके लिये भगवान्को अत्यन्त सुगम भी कहा है—

दूरात्सुदूरे अन्तिकात् तदु अन्तिके च ।

भगवान् दूर-से-दूर और समीप-से-समीप हैं ।*

भ्रम अनादि और सान्त है

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पुराना लेख)

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नहीं पड़ती और न उसकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम या यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमें परिश्रम और यत्न करना पड़ता है। परंतु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उस भ्रमको मिटा देना ही कर्तव्य है। वास्तवमें यह भ्रम ब्रह्मको नहीं है। यह भ्रम उसीमें है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है। वास्तवमें तो ब्रह्ममें भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परंतु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोंको, जो इस भूलमें हैं। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादि कालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादिकालसे होनेवाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि सान्त नहीं है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नहीं हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नहीं है, पीछेसे हुई है तो इसमें तीन दोष आते हैं—प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोंका पुनः भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है। इस हेतुसे यह अनादि और सान्त ही सिद्ध

---

* श्रद्धेय अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज जाने-माने हुए तत्त्वज्ञ विद्वान् महात्मा हैं। इनके सद्ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ कत्तेमें एक 'भक्ति-सुधा-साहित्य-परिषद्'नामक संस्था स्थापित हुई है, जिसका महान् उद्देश्य है सनातनधर्मावलम्बी जनताकी धार्मिक भावनाको दृढ़ करनेके लिये धार्मिक साहित्य प्रकाशित कर धर्मके निगूढ़ तत्त्वोंको प्रकाशमें लाना। योग, भक्ति, ज्ञान, प्रेम आदिके प्रचारद्वारा देशकी प्राचीन सर्वकल्याणकरी संस्कृतिको जाग्रत् रखना। उसी संस्थाके द्वारा श्रीस्वामीजीके भगवान्की लीला-सम्बन्धी तथा अन्यान्य धर्म एवं साधनाविषयक महत्त्वपूर्ण निबन्धोंका संग्रह—'भक्ति-सुधा' नामसे तीन खण्डोंमें प्रकाशित हुआ है। ये तीनों ही खण्ड अत्यन्त उपयोगी हैं। पुस्तकोंके प्राप्त करनेका पता है—श्रीबाबूलालजी गनेड़ीवाल, १४५ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता ७। यह लेख 'भक्ति-सुधा'के प्रथम खण्डसे उद्धृत है।—सम्पादक

होती है। वास्तवमें कालकी कल्पना भी मायामें ही है; क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध-बोध-ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; परंतु किसी भी व्यक्तिके द्वारा संसार असत् है, यह कहा जाना उचित नहीं; क्योंकि वास्तवमें यों कहना बनता नहीं। संसारको असत् माननेसे संसारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी बात है। जिस वास्तविकतामें शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं, कहना भी वहीं बनता है कि जहाँ अज्ञान है और जहाँ कहना बनता है वहाँ सृष्टिके रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है, उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है।

गणपति और गणतन्त्र

(व्याख्याकार—श्रीपीताम्बरापीठ-संस्थापक श्री१००८ स्वामीजी महाराज, दतिया)

मन्त्र—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्।

शब्दार्थ—हे गणोंके स्वामी! हम सब आपका आह्वान करते हैं। आप सभी प्रिय वस्तुओंके प्रिय स्वामी हैं, इस रूपसे भी हम आपको बुलाते हैं; सम्पूर्ण रत्न आदि ऐश्वर्य पदार्थोंके स्वामी भी आप ही हैं; मेरे आप वासस्थानके समान आश्रयदाता हैं या सभी आपत्तियोंसे रक्षा करनेसे आच्छादनस्वरूप हैं। इसलिये गर्भमें छिपी हुई रहस्यकी बातोंको आप व्यक्त करें, जिससे हम उन्हें जान सकें; क्योंकि आप उनके जानकार हैं।

व्याख्या—'गण' शब्द संख्यावाची होनेसे अनेक समुदायके समूहोंका बतानेवाला है। सृष्टिके पहिले एक अद्वैततत्त्व होनेसे उसके लिये 'गण' शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता। सृष्टिकालमें अनेकता होनेसे उसी अर्थमें 'गण' शब्दका प्रयोग समुचित है। मनुष्योंका समुदाय, पशुओंका समुदाय, पक्षियोंका समुदाय, वृक्ष-लतादिका समुदाय आदि गण शब्दसे लिये जा सकते हैं। तथापि ज्ञानप्रधान प्राणी मनुष्य है, उसीका उपदेशमें अधिकार होनेसे मन्त्रमें मनुष्यगणका ही ग्रहण है। लौकिक एवं पारमार्थिक स्वार्थ मनुष्य गणतन्त्रके द्वारा प्राप्त करे। इसीलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषिने उपदेश किया है। एक उक्ति इस विषयमें प्रसिद्ध है—

समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशो निरर्थकः।

अर्थात् 'समुदाय या गण ही अर्थवान् है, उसका एकदेश निरर्थक है।' इसलिये सार्वजनिक स्वार्थसिद्धिके लिये गणतन्त्रकी योजना ही सर्वश्रेष्ठ है। एक व्यक्तिका स्वार्थ सार्वजनिक स्वार्थके बराबर नहीं हो सकता, इसलिये अधिक लोगोंका स्वार्थ ही श्रेष्ठ है और उसका साधन गणतन्त्र है। देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार गणोंमें कई प्रकार हो सकते हैं। उन सभी [illegible] यथार्थरूपमें समन्वय करके प्रजाको श्रेयमार्गका [illegible] चलनेवाला ही यथार्थ 'गणपति' हो सकता है। ग[illegible] को जनता ही चुन सकती है, इसलिये मन्त्रमें 'ह[illegible]' यह बहुवचनका प्रयोग किया गया है। वह गणपति प्रियोंका प्रिय होना चाहिये। अपने व्यक्तिगत स्वार्थको

जनताके स्वार्थमें मिला देनेवाला होना चाहिये। तभी वह प्रियपति हो सकता है। पदलिप्सा एवं क्षुद्र स्वार्थके वशीभूत यदि राष्ट्रपति होगा तो उस गणतन्त्रका पतन हो जायगा। इतिहासके देखनेसे यह ज्ञात होता है कि जब कभी ऐसा हुआ है तब उसका कारण उस देशके राष्ट्रपति या राजाकी दुर्बलता ही इसमें प्रधान हेतु रही है। जिस गणपतिके शासनमें धन-धान्यकी समृद्धि होती है, प्रजा सभी सुखोंसे सम्पन्न रहती है, वही 'निधिपति' शब्दका अधिकारी है। संक्षेपमें इन तीनों विशेषणोंसे एक राष्ट्रके राष्ट्रपतिमें जितनी आवश्यक बातें हैं, उन्हें मन्त्रद्रष्टाने बता दिया है। प्रजाकी रक्षाके लिये समय-समयपर जो रहस्यमयी बातोंको सोचता एवं कार्यान्वित करता है तथा प्रजाका पूर्ण विश्वासी है, वही 'गणराज' है। सभी राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक बातोंके अनेक ज्ञानसे युक्त होनेसे जो 'लम्बोदर' है, प्रजाके चारों पुरुषार्थोंका साधक होनेसे जो 'चतुर्भुज' है, जो एकदन्तरूप एक सत्य निश्चयकी निष्ठावाला है, राष्ट्रके विध्वंसकरूप शत्रुओंको जो मूषककी तरह दबाकर रखता है, वह राष्ट्रपति सबसे प्रथम पूजित होता है। भौतिक, दैविक आदि विघ्नोंका लौकिक एवं शास्त्रीय उपायोंके द्वारा जो नष्ट करनेमें समर्थ हो, उसे 'विघ्नहर' की उपाधि दी जाती है।

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमः।

—इस मन्त्रमें गण एवं गणपतिको नमस्कार किया गया है।

यह मन्त्र कर्मकाण्डियोंने श्रीगौरीपुत्र गणेशजी पूजामें लगाया है। अश्वमेधयज्ञमें इसे अश्वकी स्तुतिमें उव्वट, महीधर भाष्यकारोंने लिखा है। तपश्चर्यासे वेद-मन्त्रोंके अनेक अर्थ हो जाते हैं। यहाँपर 'गणतन्त्र'का यह अर्थ अधिक संगत होनेसे लिखा गया है।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

(लेखक—बालयोगी स्वामी परमानन्द सरस्वती एम्० ए०)

मनुष्यके शरीरमें सभी कुछ महत्त्वका है—हाथकी छोटी-से-छोटी अँगुली भी अपना महत्त्व रखती है, परंतु मनका महत्त्व सर्वाधिक है। इसकी विलक्षण शक्तियाँ हैं। मनुष्यका सुख और दुःख, बन्धन और मोक्ष मनके ही अधीन है। संसारमें कोई ऐसा स्थल नहीं जो मनके लिये अगम्य हो, मन सर्वत्र जा सकता है, एक पलमें जा सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ जहाँ नहीं पहुँच सकतीं, जिसे नहीं देख सकतीं, मन वहाँ जा सकता है, उसे ग्रहण कर सकता है। जिस आत्म-ज्ञानसे शोकसागरको [illegible]रकर नित्य निरतिशय सुखका अनुभव किया जा सकता [illegible] वह मनके ही अधीन है। मन ही आत्मसाक्षात्कारके [illegible]त्रवत् है। श्रुति भी कहती है—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'। [illegible]में हम जो भी उत्कर्ष प्राप्त करते हैं, उनके मुख्य [illegible] हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। कानोंसे सुनायी [illegible]ता हो, आँखोंसे दिखायी न देता हो तो कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यों न हो, कैसे विद्या प्राप्त करेगा? विज्ञान और कलाके क्षेत्रमें कैसे और क्या वैशिष्ट्य सम्पादन करेगा? अर्थोपार्जन भी कैसे करेगा? ऐसा व्यक्ति तो संसारमें दीन-हीन ही रहेगा। अपनी जीवनयात्राके लिये भी वह दूसरोंपर आधारित होकर भारभूत ही होगा। अतः इस सत्यसे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे उत्कर्षके प्रथम और महत्त्वपूर्ण साधन हैं हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। परंतु यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोंका प्रवर्तक है मन। यदि मन असहयोग कर दे तो स्वस्थ और सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं रह जायँगी। जब इन्द्रियोंका प्रवर्तन-निवर्तन मनपर आधारित है और कर्मसम्पादन इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके अधीन है तथा अभ्युदयकी प्राप्ति सम्यक् कर्मसम्पादनपर आधारित है, तब यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभ्युदय मनके शुभसंकल्पयुक्त होनेपर निर्भर है। इसलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रार्थना करता है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। १)

मेरा वह मन सद्विषयक संकल्पवाला (शिवसंकल्प) हो, मनमें कभी पापभाव न हो, जो जाग्रदवस्थामें देखे-सुने दूरसे दूरस्थलतक दौड़ लगाता है। (दूरमुदैति) और सुषुप्तावस्थामें पुनः अपने स्थानपर लग जाता है। जो ज्योतिस्वरूप (देव) आत्माको ग्रहण करनेका एकमात्र साधन होनेसे ('दैव') कहा जाता है। जो भूत, भविष्य और वर्तमान तथा विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है. (दूरंगमम्-दूरगामी) तथा विषयोंको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ (ज्योतियों) का एकमात्र प्रकाशक (ज्योतिरेकं) अर्थात् प्रवर्तक है।

मनके ही निर्मल उत्साहयुक्त और श्रद्धावान् होनेपर बुद्धिमान् यज्ञ-विधिविधानज्ञ कर्मपरायण जन यज्ञोंकी सब क्रियाओंको सम्पन्न करते हैं। मेधावी पुरुष बुद्धिके सम्यक् प्रयोगसे वेदादि सच्छास्त्रोंका प्रामाण्य समझ सकते हैं। न्याय और मीमांसा आदि दर्शनशास्त्रोंकी प्रक्रियाका गाढ़ अनुशीलन कर अप्रामाण्यकी सब शंकाओंको दूरकर अपने हृदयमें दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर सकते हैं। वेदादि शास्त्र अपने विषयमें (धर्म और ब्रह्मके विषयमें) निर्विवाद प्रमाण हैं। अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन करके विविध फलोंका सम्पादन करनेवालेके विधि-विधान और अनुष्ठानकी सम्पूर्ण प्रक्रियाको भी सीख सकते हैं। परंतु यह सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष यज्ञमें प्रवृत्ति तथा आवश्यक क्रियाओंका सम्पादन तभी हो सकता है, जब मन निर्मल, श्रद्धोपेत तथा उत्साहयुक्त हो। वैदिक क्रियाओंकी ही भाँति सभी लौकिक कर्म भी मनके ही प्रसन्न रहनेपर ठीक प्रकारसे किये जा सकते हैं। अतः हम और किसी भी बातकी अपेक्षा कर दें, पर मनको प्रसन्न कर रखनेके लिये तो हमें विविध प्रकारके उपाय करने ही पड़ेंगे। समग्र क्रियाकलाप मनकी अनुकूलतापर निर्भर है। हम एक-आध बार भले ही मनकी अपेक्षा कर दें, परंतु हम सदा ऐसा नहीं कर सकते। मनको सदा खिन्न रखकर हम अपना जीवन भी नहीं चला सकते। मनको भगवान् स्वयं अपनी 'विभूति' बतलाते हैं—'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' (गीता १० । २२) 'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ।' अतः मन पूज्य है। हमें उसकी पूजा करनी ही पड़ेगी, उसका रुख देखना ही पड़ेगा। इसीलिये ऋषि दूसरी ऋचासे प्रार्थना करता है—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(शुक्लयजु० ३४ । २)

जिस मनके स्वस्थ और निर्मल होनेपर मेधावी पुरुष (मनीषिणः) यज्ञमें कर्म करते हैं। (कर्माणि कृण्वन्ति) मेधावी जो कर्मपरायण हैं (अपसः अपस्विनः) तथा यज्ञसम्बन्धी विधिविधान (विदथेषु) में बड़े दक्ष हैं (धीराः धीमन्तः) तथा जो मन संकल्प-विकल्पोंसे रहित हुआ साक्षात् आत्मरूप ही है। (यदपूर्वं अपूर्वमनपरमबाह्यं) इत्यादि श्रुति इन लक्षणोंसे आत्माका ही लक्ष्य कराती है। और पूज्य है (यक्षम्) जो प्राणियोंके शरीरके अंदर ही स्थित है (अन्तः प्रजानां) वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके माध्यमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान-वस्तु मनके द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके ज्ञानोंका जनक मन ही है। क्षुधा और पिपासा इत्यादिकी पीड़ासे मन जब अत्यन्त व्यथित हो जाता है, तब बुद्धिमें कुछ भी ज्ञान स्फुरित नहीं हो पाता। ज्ञान ही मनुष्यकी विशेषता है। ज्ञानके ही बलसे वह मर्त्यलोकके अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बना, उनका शिरमौर बना। ज्ञानकी ही वृद्धि कर उसने अतुल सुख और सम्पत्ति प्राप्त की। ज्ञानके ही द्वारा उसने पशुओंकी अपेक्षा अपने जीवनको मधुर बनाया। मोक्ष भी आत्मज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है। उस ज्ञानका जनक यह मन ही है।

हमारी जीवनयात्रा निष्कण्टक नहीं। अनेक विघ्न-बाधाएँ इसमें उपस्थित होती हैं। अभ्युदय और उत्कर्षका कोई मार्ग अपनाओ, वह निरापद नहीं होगा। कठिनाइयाँ और क्लेश हमारे सामने आयेंगे ही। यदि हम उन कठिनाइयोंको जीतनेमें समर्थ नहीं तो मार्गपर आगे प्रगति नहीं कर सकते। यदि प्रगति अभीष्ट है तो कठिनाइयोंसे संघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना होगा। इसके लिये धैर्य चाहिये। थोड़ी-थोड़ी कठिनाइयोंमें अधीर हो जानेवाले व्यक्ति तो कोई उद्यम नहीं कर सकते। कार्य उद्यम करनेसे सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्रसे नहीं। अतः सफलताके प्रासादका एक मुख्य स्तम्भ धैर्य है। धैर्य मनमें अभिव्यक्त होता है। अतः धैर्यका उत्पादक होनेसे जलको जीवन कहनेकी भाँति मनको ही धैर्यरूप कहा गया है। मनके बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। अतः तीसरी ऋचासे ऋषि कामना करता है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किंच न कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(शुक्लयजु० ३४ । ३)

जो मन प्रज्ञान अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला (चेतः) सामान्य ज्ञानजनक है, जो धैर्यरूप है, सभी प्राणियोंमें (प्रजासु) स्थित होकर अन्तर्ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिको अथवा आभ्यन्तर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है एवं जिसकी सहायता और अनुकूलताके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ केवल उन पदार्थोंको ग्रहण कर सकती हैं, जिनसे उनका साक्षात् सम्बन्ध हो, पर मन अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है। चतुर्थ ऋचासे ऋषि यही भाव व्यक्त करता है—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(शुक्लयजु० ३४ । ४)

जिस मनके द्वारा यह सब भलीप्रकार जाना जाता है, ग्रहण किया है (परिगृहीतम्), भूत, भविष्यत् और वर्तमान-सम्बन्धी सभी बातोंका परिज्ञान होता है (भूतं भुवनं भविष्यत्), जो मन शाश्वत है—संकल्प-विकल्पसे रहित हुआ आत्मरूप ही है (अमृतेन शाश्वतेन), जिस श्रद्धायुक्त और स्वस्थ मनसे सप्त होताओंवाला अग्निष्टोम यज्ञ (अग्निष्टोममें सप्त होता होते हैं) किया जाता है (तायते-विस्तार्यते), मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

हमारा जितना भी ज्ञान है, वह सब शब्दादिमें ओत-प्रोत है। शब्दानुगमसे रहित लोकमें कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे आत्माकी अभिव्यक्ति शरीरमें होती है, वैसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति शब्दरूप कलेवरमें ही होती है। वे शब्द मनमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। मनके स्वस्थ होनेपर उनकी स्फूर्ति होगी और मनके व्यग्र होनेपर वे स्फुरित नहीं होंगे। छान्दोग्य उपनिषद्में कहा गया है—'अन्नमयं हि सोम्य मनः' 'हे सोम्य ! मन अन्नमय है।' इस सत्यका अनुभव करानेके लिये शिष्यको कुछ दिनोंतक भोजन नहीं दिया गया। भोजन न मिलनेसे जब वह बहुत कृश हो गया, तब उसे पढ़े हुए वेदको सुनानेके लिये कहा गया। वह बोला कि 'इस समय वह पढ़ा हुआ कुछ भी मनमें स्फुरित नहीं हो रहा है।' अनन्तर उसे भोजन कराया गया। भोजन तृप्त होनेपर उसके मनमें वह पढ़ा हुआ वेद स्फुरित हो गया। इस अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी सिद्ध होता कि ज्ञानकी प्रतिष्ठा और स्फूर्ति मनमें ही होती है। यदि मन प्रसन्न है तो ज्ञान-सम्पादन और विचार-विमर्श सफल होंगे। यदि वह व्यग्र और अधीर हो रहा है तो यह कुछ भी कार्य सफल न होगा। अतः मनका निर्मल और प्रसन्न होना सबसे अधिक महत्त्वका है। इसीलिये पाँचवीं ऋचामें ऋषि प्रार्थना करता है—

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।
(शुक्लयजु० ३४ । ५)

जिस मनमें ऋक्, यजुः और सामरूप वेदत्रयी प्रतिष्ठित है, ठीक उसी प्रकार जैसे रथचक्रनाभिमें चक्के-अरे, जिस मनमें प्राणियोंका लोकविषयक ज्ञान (चित्तम्) पटमें तन्तुके भाँति ओत-प्रोत है—मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

बुद्धिमान् जन जानते हैं कि मन ही मनुष्यको इधर-उधर भटकाता रहता है। यही आग्रह करके उन्हें किसी मार्गमें प्रवृत्त करता है अथवा उससे निवृत्त करता है। नयन और नियमन मनके ही अधीन है। यदि मन पवित्र संकल्पवाला होगा तो उत्तम स्थानपर ले जायगा और असत् प्रवृत्तियोंसे इसका नियमन करेगा। यदि मन पाप संकल्पोंसे आक्रान्त होगा तो मनुष्यको बुरे मार्गमें लगाकर उसके विनाश और दुर्गतिका कारण बन जायगा। छठीं ऋचासे ऋषिने यही बात कहकर मनके पवित्र होनेकी प्रार्थना समाप्त की है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।
(शुक्लयजु० ३४ । ६)

जैसे कुशल सारथि (सुषारथिः) चाबुक हाथमें लेकर घोड़ोंको (अश्वान्) जिधर चाहता है ले जाता है (नेनीयते), वैसे ही जो मन मनुष्योंको (मनुष्यान्) जिधर चाहता है ले जाता है तथा जिस प्रकार सुसारथि बागडोर हाथमें लेकर (अभीशुभिः) घोड़ोंको अपने मनचाहे स्थानपर ले जाता है (वाजिनः-नेनीयते) वैसे जो मन मनुष्योंको ले जाता है, जो प्राणियोंके हृदयमें प्रतिष्ठित है (हृत्प्रतिष्ठम्), शरीरके वृद्ध होनेपर भी जो वृद्ध नहीं होता, जो अत्यन्त वेगवान् है (जविष्ठम्); मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

दो दृष्टान्त देकर बतलाया कि 'मन शरीरका नयन और नियमन दोनों करता है। शरीरके शिथिल होनेपर भी मनका वेग कम नहीं होता है। अत्यन्त वेगवान् होनेसे जल्दी वशमें नहीं आता है।' बिगड़ उठे तो बलवान् होनेसे व्यक्तिको बुरी तरह झकझोर देता है। यदि मन शुद्ध और पवित्र बन जाय तो हमारे जीवनकी धारा बदल जायगी और हमारी समस्त शक्तियाँ मङ्गलमय कार्योंमें ही लगेंगी।

तन्त्राम्नायकी स्थूल रूपरेखा

(स्वामीजी श्रीप्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वती)

[अनुवादिका—श्रीप्रेमलता शर्मा, एम्० ए०; पी-एच्० डी०, साहित्यशास्त्राचार्य, संगीतालंकार]

[मार्च १९६५ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयमें एक बृहत् तन्त्र-सम्मेलन आयोजित किया गया था। उक्त सम्मेलनके अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामीजी श्रीप्रत्यगात्मानन्द सरस्वतीका संस्कृत-भाषण सम्मेलनके उद्घाटनके अवसरपर पढ़ा गया था और उसकी मुद्रित प्रतियाँ वितरित की गयी थीं। इस भाषणका परिवर्धित संस्करण स्वामीजीने अगस्त १९६५ में प्रकाशित कराया था। उसीका हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है।—अनुवादिका]

यहाँ संयोजित तन्त्र-सम्मेलनमें मङ्गलाचरणके उपलक्ष्यमें तन्त्र-आम्नायके मौलिक आधारपटका स्थूल रेखाङ्कन प्रस्तुत है। परिनिष्ठित सिद्धान्तोंपर आधृत होनेपर भी तन्त्रागमोंकी व्यवहार-सम्बन्धी योग्यता मुख्यतया साधनोपायोंके निर्देशक शास्त्रोंके रूपमें ही है। साधन-शास्त्रोंमें भी श्रीगुरु-तत्त्वका मुख्यरूपेण व्यपदेश है; क्योंकि सभी साधन-मार्गोंमें श्रीगुरु ही साधकोंके एकमात्र सहाय, शरण्य एवं सुहृत् हैं। इसीसे श्रीगुरुपादुकाको लक्ष्य करके 'जपसूत्रम्'* नामक ग्रन्थमें हमने यह श्लोक लिखा है—

भारं कर्मार्पितमतिगुरुं घोरतादिप्रवृद्धं
मग्नामुर्वीमिव पयसि यो लीलयाप्युद्दिधीर्षुः।
धत्ते बीजं श्रुतिपथचरं यत्पदे चात्ममन्यं
क्लेशव्यूहच्छिद्दुरुमखभृच्छ्रीगुरुः पद्ममूर्तिः॥

'गम्भीर चिन्ताशील दार्शनिक हैं, वैदिक और तान्त्रिक सिद्धान्त एवं साधनपद्धतिके मर्मज्ञ हैं, आधुनिक विविध विज्ञान और गणितशास्त्रके तत्त्ववित् हैं, प्राच्य और प्रतीच्य एवं प्राचीन और नवीन उभय भावधाराके साथ सम्यक् परिचित हैं, तीक्ष्णदर्शी, विश्लेषण-पटु एवं लिपिकुशल सुलेखक हैं—सर्वोपरि वे स्वयं साधन-पथके विचित्र अनुभवसम्पन्न चरणशील पथिक हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह शास्त्रमूलक है एवं महाजनोंके अनुभव और सद्युक्ति-द्वारा समर्थित है। अतएव उनके ग्रन्थका अनन्य-साधारण महत्त्व है।'

ग्रन्थके सम्बन्धमें उनका यह वाक्य पूर्णतया यथार्थ है—'स्वानुभूति, सद्युक्ति और वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तके साथ शास्त्रीय सिद्धान्तका ऐसा अपूर्व समन्वय करनेका यत्न मैंने और कहीं भी नहीं देखा है।......ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थ लिखा है अवश्य किंतु वे लिपिकरमात्र हैं। उनकी पूत लेखनीको निमित्तरूपसे ... करके विश्वगुरुने ही कालोपयोगी आकारमें इसके द्वारा आत्मप्रकाश किया है। जो लोग परमपथमें प्रविष्ट हैं अथवा प्रविष्ट होनेके इच्छुक हैं, वे लोग आन्तरिकताके साथ यदि इस ग्रन्थोक्त तत्त्व-मालाका मनन कर सकेंगे तो अवश्य उपकृत होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।'

* 'जपसूत्रम्' पूज्यपाद स्वामीजीद्वारा रचित अपूर्व ग्रन्थराज है जिसमें 'जप' का अप्रतिम शास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। मूलग्रन्थ संस्कृतमें है और सूत्र-कारिका-शैलीमें लिखा गया है। सूत्र-संख्या ५२२ और कारिका-संख्या २०५९ है। मूलग्रन्थपर स्वयं स्वामीजीने अतिविस्तृत बंगला-भाष्य भी लिखा है। भाष्य-सहित मूलग्रन्थ बंगलामें ६ खण्डोंमें प्रकाशित है, जिसकी कुल पृष्ठसंख्या २०५० है। स्वामीजीके आदेशानुसार इस अनुपम ग्रन्थको व्यापक क्षेत्रमें सुलभ बनानेके लिये इसका हिंदी-अनुवाद प्रस्तुत भाषणकी अनुवादिकाद्वारा किया जा रहा है। मूल सूत्र-कारिकाको देवनागरी अक्षरोंमें टिप्पणीसहित एक जिल्दमें एवं भाष्य-सहित पूरे ग्रन्थको स्वतन्त्ररूपसे ६ खण्डोंमें प्रकाशित करनेकी योजना है।

महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराजके शब्दोंमें 'जपसूत्रम्' के ग्रन्थकार—

प्रलय-पयोधिजलमें डूबती हुई धराका भार वहन करनेके लिये और रसातलसे उसका उद्धार करनेके लिये श्रीभगवान्ने वराहशरीर ग्रहण किया था। वह (उस रूपका) परिग्रहण तो देश-कालादि अनेक विशेषणोंसे अवच्छिन्न था; किंतु श्रीगुरुद्वारा घनीभूत कृपाकी ही मूर्तिका परिग्रह वैसा नहीं है; यह तो अस्त न होनेवाले सूर्यके समान अथवा सदा बहनेवाले महासमीरणके समान सर्वत्र सर्वदा होता ही रहता है। जीव-पर अनादिकालसे, जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मों एवं तदनुसार प्राप्य फलोंका अतिशय गुरु भार है और वह भी घोर एवं मूढ़रूपवाले रजस् एवं तमस् गुणोंद्वारा सदा प्रचुरमात्रामें बढ़ता ही रहता है। इसी भारसे जीव भी अतिशय प्रवृद्ध संसार-सागरमें अधिकाधिक डूबता जाता है। इस भारको वहन करके लीलासे ही यानी अनायास जीवका उद्धार करनेकी इच्छावाला श्रीगुरुसे इतर कोई नहीं है, इससे श्रीगुरुका वराहरूपसे नित्य क्रियाशील रहना सूचित होता है।

प्रलय होनेपर वेदशब्दराशिके रूपमें सृष्टि-बीजका धारण मीनावतारमें श्रीभगवान् करते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। श्रद्धायुक्त शिष्योंके श्रुतिपथमें बीजमन्त्र-प्रदानके द्वारा श्रीगुरु उनके क्लेश-कर्म-विपाकाशयरहित अभ्युदय-निःश्रेयस्-प्राप्तिरूप नित्य अव्यय जन्मके प्रति बीजप्रद पिता ही होते हैं। तथा च, जैसे समुद्र-मन्थनके समय श्रीभगवान्ने कूर्मरूपसे मन्थन-दण्डको अपनी पीठपर धारण किया था, वैसे ही आत्मामें रत, ब्रह्मवर्चसके अभिलाषी शिष्योंके आत्म-मन्थन-दण्डको धारण करनेमें उदार, अशेष-महिमा-सम्पन्न श्रीगुरु सदा ही समर्थ होते हैं अर्थात् उस दण्डको धारण करते हैं। अतः परम भागवत प्रह्लादके भय-निरसनके लिये जैसे श्रीभगवान्ने नृसिंहरूपमें आविर्भूत होकर वज्राधिक तीक्ष्ण नखस्पर्शसे हिरण्यकशिपुके दुर्दान्त वक्षको विदीर्ण किया था, उसी प्रकार अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश—इन अतिभयावह पञ्चक्लेशोंके भयसे आर्त्त जीवोंके दारुण भवभयको श्रीगुरु समूल, सविपाक उखाड़ फेंकते हैं, विनष्ट कर डालते हैं। —जैसे वामनावतारमें भगवान्ने तीन पग भूमिकी याचनाके व्याजसे बलिके यज्ञको प्रकृष्टरूपेण पूर्ण किया था, अतः सफल बनाया था, वैसे ही शिष्योंसे प्रयास-प्रपत्ति-[illegible]-रूपिणी त्रिपाद्-भिक्षा माँगकर श्रीगुरु शिष्योंके जपादि यज्ञोंको सफल बनाते हैं, परिपूर्णताको प्राप्त कराते हैं। उनका यह कार्य अथवा स्वभाव कभी पहले था अथवा भविष्यमें कभी होगा, ऐसा नहीं, भूत-भव्यादि कालावधिसे व्याप्य, सीमित नहीं; अतएव नित्य हैं, वे सदा-सर्वदा ऐसे ही हैं। इस प्रकारकी श्रीगुरुकी पञ्चावतार-समवेत नित्य-रहनेवाली परम-अनुग्रहस्वरूपिणी मूर्त्ति है। ऐसे उन परम कृपालु श्रीगुरुदेवको नमस्कार है।

तन्त्रविधानोंमें मन्त्र ही मुख्य मन्त्री है। मन्त्रोंके चैतन्योद्बोधनके लिये एवं उनके समर्थ विनियोगके लिये मन्त्रोंका भी सविशेष उपयोग है। 'ओंकार एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' इस श्रुतिप्रमाणसे ॐकार ही समस्त वाच्य-वाचकका कारणभूत है, यह सिद्ध होता है। इसीसे ॐकाररूपी परम रहस्यमय तनुधारी विनायककी स्तुतिमें हमने 'जपसूत्रम्' में यह श्लोक लिखा है—

> ऊर्ध्वशुण्डमधःशुण्डं द्विधा व्यावृत्तशुण्डकम्।
> सर्गविसर्गसंधीशं नौम्योङ्कारविनायकम्॥
> उच्चैः शुण्डः प्रभवति पुरः सर्वसम्भाव्यसृष्ट्यै
> शुण्डश्चाधः प्रकृतिविलयद्योतकाश्चर्यलिङ्गम्।
> व्यावृत्तौ द्वावध उपरि वा सेतुसंधी च शुण्डौ
> श्वासावाखू कुशलशरणस्तारमूर्त्तिर्गणेशः॥

श्रीगजवदनका शुण्ड ही तो परम-रहस्यमय संकेत है। ॐकार भी शुण्डाकृति है, इसी बलसे उक्त संकेत उपलब्ध होता है। शुण्डके भी चार प्रकारके विन्यासकी कल्पना की जा सकती है। ऊर्ध्वविन्याससे सर्ग, अधोविन्याससे विसर्ग और ऊर्ध्व-अधः द्विधा व्यावृत्त विन्यासोंसे क्रमशः सर्ग-विसर्ग-सन्धियोंका संकेत मिलता है। श्रीविनायकका वाहन मूषक भी नासाविवरचारी वायु (प्राण) रूपसे ॐकारकी व्याहृतिका निर्वाह करता है, ऐसा सुज्ञजनोंको समझ लेना चाहिये। पञ्चजपा रूपसे आयुके मूलको निरन्तर काटते हुए भी अजपाजप रूपसे यह मूषक मन्त्र-जपकर्ताओंकी सिद्धिका उत्तम निर्वाहक होता है, यह भी जान लेना चाहिये। प्राण और अपानकी व्यस्त-विषमताको छोड़कर उनकी समस्त समताका आश्रयण करना चाहिये, ऐसा भगवान्का भी वचन है—'प्राणापानौ समौ कृत्वेति'। उपनिषदोंके समान ही तन्त्रोंमें भी साधन-वीर्य-समापत्तिके लिये चर्या-भाव-तत्त्वज्ञानरूपिणी तीन प्रत्यग्धाराओंका संगति-सम्मेलन अवश्य करना होगा। 'विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तरं भवति' इस छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार। इसी कारण भावसे अनुप्राणित, गुरु-देवता-मन्त्र-यन्त्र-उपासना-रूपिणी अङ्ग-वैकल्यादिसे रहित साधना आगमसाधनोंमें विशेषरूपसे समुपदिष्ट है। अतएव

भाव-निष्ठा-सहकृत उपासनाके गौरव-ख्यापनके लिये निम्न श्लोक श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-युगलके अद्वैत-सामरस्यके प्रकाशनके लिये उनके श्रीपादारविन्दोंमें निवेदित है—

क्षीरोदार्णवसन्थनात् समभवत् पीयूषसंदोहनं
श्रीरूपेण तु तस्य वण्टनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी।
संजातं गरलं स्वकण्ठकुहरे धृत्वापि मृत्युञ्जये
मन्नाथे शशिशेखरे सुषमता नित्यैव विश्वेश्वरे ॥

सुस्पष्ट अर्थके और अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है। तब भी अमृत एवं गरल दोनोंका ही सामरस्य अथवा सुषमता चन्द्रमौलि, नीलकण्ठ, मृत्युञ्जय भगवान् श्रीशङ्करमें है, यह भी प्रत्यग् दृष्टिसे देखना होगा। मृत्युरूप कालकूटको अपने कण्ठमें धारण करके भी मृत्युञ्जय, ये ही मूर्द्धापर सोमार्धकला (अमृतस्वरूपिणी)को धारण करके मृत्युञ्जय मन्त्रको जपनेवालोंको मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाते हैं। एवं एक बार जिन्होंने अमृत पाया है, उनका अमृतसे वियोग नहीं करते (योगक्षेम वहन करते हैं)।

'मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।'

—इस प्रकार शिव-भालस्थ चन्द्रकला ही—

'स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्।'

—इस श्रौतमन्त्रका लक्ष्यार्थ है। और भी जो श्रीचण्डीस्तोत्रमें—

'अर्धमात्रा स्थिता नित्या।'

—इस श्लोकपादद्वारा लक्षित है, वह शङ्करभाल-विभूषण-रूपिणी सोमार्धकला ही है। अतः वह सोमार्धकला ही निखिल रहस्यमञ्जूषाके उद्घाटनमें प्रवीण कुञ्जी है, ऐसा हम मानते हैं। तन्त्राम्नायोंमें क्रिया, ज्ञान, योग, उपासना, भुक्ति, मुक्ति प्रभृति समस्त द्वन्द्वोंके सुषम सामञ्जस्यपूर्ण समन्वय सम्मेलनका ही विधान है। 'विषमप्यमृतायते' 'भोगोऽपि योगायते' इत्यादि उक्तियोंद्वारा तन्त्रशास्त्रका अनन्य साधारण वैशिष्ट्य ही जाना जाता है।

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः।
तेनैव विषखण्डेन भिषग् वारयते रुजम् ॥

—ऐसा शास्त्रमें कहा भी है। आगमोंके प्रवक्ता भगवान् श्रीशङ्करमें विष-पीयूषका सम्मेलन है, मूलतः इन दोनोंका सामरस्य भी सुस्पष्टतया परिलक्षित होता है। निम्नलिखित श्लोकद्वारा वही समझना चाहिये—

यश्छम्भोरहिभूषणं शिरसि वा कण्ठे भृशं राजते
तत्पाशेन विषं गले च विधृतं गोपायिता स्वर्धुनी।
विज्ञानं नयतामृतेन हि यथा भालेन्दुमूर्ध्वं मृते-
र्गङ्गां विष्णुपदोद्भवां क्षिमितरद् येनाहिराशीविषः ॥

सिरपर अथवा गलेमें सुशोभित नाग-भूषण भी पाशरूप होकर विषको शंकर-कण्ठमें धारण करता है। इसी पाशके द्वारा जटा-जालमें स्वर्धुनी छिपा ली जाती है। सम्यक् योग-क्षेमके लिये लोगोंको उसी विज्ञानका समाश्रय लेना चाहिये जो मृतके पथसे मृतिके पार सुधा-संदोह-सार श्रीशंकरके भालेन्दुकी ओर ले जाता है एवं जटामात्रमें छिपी हुई उन गङ्गाकी ओर भी ले जाता है जो गङ्गा स्वयं विष्णुपादोद्भवा होनेपर भी, जो 'तद् विष्णोः परमं पदम्' है, उसकी एकमात्र ध्रुव-पथप्रदर्शिनी हैं। शिवके मुखोंसे विनिःसृत जो आगम-वाणी है, वही यह अध्यात्मगङ्गा है। हर-जटा-जालमें छिपी हुई वह (गङ्गा) मध्यमावाक् हैं, जो समस्त वाणियोंकी धुरी हैं। स्फोटस्वरूपिणी अनाहतनादके अक्षपर टिकी हुई उस (गङ्गा) का आश्रयण करके ही निखिल वाक्स्पन्दोंकी द्विविधा वृत्ति होती है—स्थूला एवं सूक्ष्मा। विशेष-अविशेष भेदोंसे सूक्ष्मा भी द्विधा विभक्त है। स्थूल वैखरी है और सूक्ष्म पश्यन्ती एवं परा है। विशेषकी अपेक्षा अविशेषमें कारणता है—इस न्यायसे परा ही समस्त वाणियोंकी समुचित कारण है, यह ज्ञात होता है। हर-जटा-जाल आदि है, यह ज्ञात होता है। हर-जटा-जाल आदिके रूपकका अनुसरण करके हम कहते हैं कि प्रजापतिके कमण्डलुमें विधृत, निखिलसृष्टिमें समर्थ, वेदराशिरूपा वह पश्यन्ती है। विष्णुका जो परमपद है, वहाँ उत्पन्न हुई एवं नित्य स्थित रहनेवाली, अशेष-विशेष स्पन्दनोंकी आधारभूता, व्योमके समान अनभिव्यक्त विशेष शब्द-स्पन्दसामग्री (समष्टि) परा है। सगरकुल-तिलक भगीरथके तपसे, उन्हींके द्वारा बजाये गये शङ्खकी ध्वनिका अनुसरण करती हुई जो यहाँ भूतलपर अवतरित हुई, वह वैखरी है। 'गं' का अर्थ है मुख्यप्राण अर्थात् नादब्रह्म। उसे जो प्राप्त करती अ[illegible] कराती है, वह है 'गङ्गा'। वहीं फिर शिव-शक्तिके सा[illegible] विज्ञानकी जननी होती है। ऐसे अन्य विज्ञानका क्या प्रयोज[illegible] जो सर्पकी भाँति लोकके भय और क्षयका कारण ब[illegible] इससे आगम-विज्ञानकी जड विज्ञानादिसे विलक्षणता भी सूचित होती है। दोनोंमें प्रयोगविधान सामान्य होनेपर भी प्रयोगतन्त्रका भेद एवं लक्षितव्य अर्थका भेद है, यह

विचारणीय है। इन दो भेदोंके कारण ही एकके द्वारा अमृतत्वका सनातन पथ प्रवर्तित किया गया और दूसरेमें बाह्य-इन्द्रिय-सम्बन्धी भोग-उपकरणोंकी बहुलतासे सृष्टिके सामर्थ्यका गौरव होनेपर भी लोकके महाविनाशका भय ही क्रमशः वर्धमान है। प्रयोग-विज्ञानोंकी बाह्य भोग्य-संग्रहकी सुविधा अथवा परीक्षासे लब्ध तत्त्वों एवं तथ्योंका चमत्कारित्व उनके उपादेयत्वके प्रतिपादनके लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि मुख्य पुरुषार्थके निर्वाहकत्वसे ही समस्त प्रयोगोंकी अर्थ-प्रतिपत्तिकी व्यवस्था की गयी है। तथापि तन्त्रप्रयोगोंमें समीक्षा-परीक्षा-जन्य प्रत्यय (ज्ञान) का भी प्रामाण्य गौरव (महत्ता) है ही, यही आगमविज्ञानका आधुनिक बाह्य-विज्ञानादिसे साजात्य है, (इनके) यथासम्भव पारस्परिक उपकारित्वकी भी सुज्ञोंद्वारा उपेक्षा न होनी चाहिये। तान्त्रिकवाद पदे-पदे प्रत्यय (ज्ञान) को प्रस्तुत करता है, यह याद रखना चाहिये।

अन्तिम गन्तव्य (लक्ष्य) के ध्रुव एवं एक होनेपर भी सरल-कुटिल नाना मार्गोंके अनुसरणमें आनन्द लेनेवाली मानव-रुचियाँ भिन्न-भिन्न होनेके कारण मार्ग, चर्या, आचारादिमें भेद है ही। परंतु परिनिष्ठित सिद्धान्तोंके विनिर्णयमें संगति-समन्वय ही होना चाहिये, अनुपपत्ति-विप्रतिपत्तियाँ नहीं, ऐसी शंका हो सकती है। इसके उत्तरमें हम कहते हैं कि सैद्धान्तिक विषयोंमें जो विप्रतिपत्तियाँ दिखायी देती हैं, वे आभासमात्र हैं, मौलिक तत्त्वपर आधृत अथवा मौलिक तत्त्वोंके आधारको विषय बनानेवाली नहीं है। इस प्रसङ्गमें यह श्लोक है—

तन्त्राम्नायमहाब्धिकुक्षिकलनाद् गम्भीरतत्त्वालया-
न्नैपुण्यान्निरमायि सूरिभिरियं सिद्धान्तमुक्तावली।
साक्षादागमसूत्रिता प्रतिपदं स्वप्रत्ययग्रन्थिता
मेरुर्यत्र हि सामरस्यमुभयोः सा नः श्रियै शोभताम्॥

सुगम्भीर तत्त्वोंके आलय तन्त्राम्नाय-महोदधिके तलसे चयन करके प्राचीन विद्वानोंने यह सिद्धान्तमुक्तावली बड़ी निपुणतासे बनायी है। साक्षात् आगम ही इस मालाका अखण्ड (कभी न टूटनेवाला) स्वर्ण-सूत्र है। ये सिद्धान्तमौक्तिक प्रतिपद स्वप्रत्ययसे ही ग्रथित हैं। आगम और निजप्रत्यय (स्वानुभव) का सामरस्य-रूपी कौस्तुभमणि इस मालाका मध्यमेरु है। वह वरमाला चिरकाल तक हमारे कल्याणके लिये, विसंवाद-वितण्डादि विडम्बनाओंके लिये नहीं, सुशोभित हो। इसीसे शैव-शाक्त-वैष्णवादि निखिल सम्प्रदायोंको लक्ष्य करके उदात्त-गम्भीर यह आगमशङ्ख निनादित होता है—'संगच्छध्वं संवदध्वं' 'समानी व आकूतिः' इत्यादि।

पूर्वाचार्योंने आपातविरोधपरिहारपूर्वक आगमके सिद्धान्तों एवं आचारादिका समन्वय-साधन किया है। उनका वह महान् अवदान अपनी महिमासे ही प्रतिष्ठित है, उसमें मन्दमति, अर्वाचीन मुझ-जैसोंकी प्रवृत्तिका क्या महत्त्व है? यहाँ यह श्लोक उल्लेखनीय है—

वेलायामुपलेषु यस्य चयनं तस्मै वरान् मौक्तिकान्
धत्ते किं जलधिर्न मन्दमतये गोपायिता मञ्जुषा।
श्रीरामेण समुद्रबन्धनकृतौ केषां महान् वोद्यमः
केषां वा सिकताविलिप्तवपुषां दीनाल्पसेवारजः॥

अशेष अगाध रत्नाकरके तुल्य आगमशास्त्रोंमें पूर्ण-प्रज्ञा-प्रसूत जो रत्न विराजमान हैं, सागरकी गम्भीर जल-राशिमें अवगाहन करके उनके उद्धारमें अतिचतुर, विशारदी बुद्धि ही समर्थ होती है; कुण्ठा-कार्पण्यादि दोषोंसे उपद्रुत-स्वभाववाली नहीं। तथापि श्रद्धा एवं आकूति (भाव) से सेवा करनेकी इच्छावाले मन्दमतियोंकी भी दीन अत्यल्प सेवाको तन्त्रेश्वरीदेवी भुवनेश्वरी कृपापूर्वक ग्रहण कर लेती हैं। श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा जब समुद्रपर सेतु बाँधा गया, तब नल-नीलादि कपि-प्रवरोंका महान् उद्यम सब लोगोंने देखा, किंतु नन्हीं गिलहरियोंने रेतमें लोटकर अपने अङ्गमें लिपटी रेतको ही सेतुस्थानपर झाड़कर जो सेवाभाव दिखाया, लोककी दृष्टिमें न पड़नेपर भी उसके द्वारा श्रीरामका महान् प्रसादानुग्रह उत्पन्न हुआ। अतः भाव एवं आकूति रहनेपर लघु सेवा भी महान् बन जाती है। 'भावग्राही जनार्दनः।'

अधुना हम आगमोंके प्राचीनत्व-अर्वाचीनत्व आदिके विचारमें उत्साह नहीं लेते और हमारी बुद्धि उसके लिये अवकाश भी नहीं पाती। पूर्णप्रज्ञामें नित्य ही प्रतिष्ठित होनेसे यहाँ देश-कालादिका अवच्छेद नहीं प्रसक्त होता, ऐसा हम मानते हैं।

आगमविद्याओं पर विदेशियों और किन्हीं-किन्हीं भारतीयों-ने अनजाने ही जो कलङ्क-विलेपन (अर्थका अनर्थ) किया है, उस कलङ्कको धोनेके लिये एवं आगमविद्याओंके विश्व-भरमें प्रचारके लिये महामति 'सर जॉन वुडरफ़'* महोदयका

* स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी 'सर जॉन वुडरफ़' (आर्थर

एवं उनके प्रयत्नों [illegible]-प्रेरणाओंसे अनुप्राणित आगमानुसंधान-समितिका जो महान् प्रयत्न है, वह हमलोगोंद्वारा चिरकृतज्ञतासे विशेषरूपेण स्मरणीय है।

यह तन्त्रविद्या अतिगहन-रहस्य-रत्नोंसे भरी मञ्जूषा है। दुस्तर, विचित्र, सुविशाल तन्त्राम्नाय-पयोधिके मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रोंके अतिगहन रहस्यरूपी गम्भीर तलको कौन जानता है? और कौन उसके पार जा सकता है? अतः शिव ही सब कुछ जानते हैं एवं जनाते हैं, शिवा ही उसके पार जाती हैं एवं पार करवाती हैं। उन शिव-शिवा-युगलको नमस्कार है। यहाँ ये दो श्लोक उद्धृत हैं—

त्रिवेण्यम्भसि योगेषु स्नपनं चेद्विशुद्धये।
वेदागमपुराणाख्यत्रिवेण्यां तत्प्रबुद्धये॥
मन्त्रेषु यन्त्रतन्त्रेषु निष्णातश्चेद् भवेद् वशी।
दृष्टे परावरे तत्त्वे स एव स्याच्छिवः स्वयम्॥

अतः समस्त साधनोंका शेषगम्य परम चरम लक्ष्य, नदियोंके लिये समुद्रके सदृश एक ही है और वह है अशेष-विशेष शक्तियोंके विलास-विवर्त आदिका अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध अधिष्ठानरूप स्वरूपमें अवस्थान।

जैसे माँ कालिकामें—

सा काली निरुपाधिशुद्धनिलये शान्ते नरीनृत्यते
कैवल्यं विदधाति निर्गुणतया द्वैतं मरीमृज्यते।
ब्रह्मास्मीत्यवबोधखड्गमहसा मिथ्याजनीन् प्रत्ययान्-
नास्ते ब्रह्मणि सर्वमेव दधती चेच्छिद्यमाना स्वयम्॥
(जपसूत्रम्)

अच्छा, यही परमोपेय हो, किंतु इस परमोपेयका परमोपायभूत साधन क्या है यह बताओ—वह है सम्पूर्ण भावसे उस एककी शरणागति; क्योंकि समस्त साधनोंकी समुद्रमें नदियोंके समान उन भगवान्‌में ही निर्बाध, निःशेष समाप्ति है, वहींपर ये परिपूर्णतया चरितार्थ होते हैं। इस भावार्थका यह श्लोक है—

अध्यारोपापवादौ त्वयि निगमयतः शुद्धनैर्गुण्यमात्रं
जन्माद्यस्यादिलिङ्गैस्त्वयि च निविशते ज्ञानशक्त्यादिकात्स्न्र्यम्।
सिद्धः संधानशेषात् त्वयि च मधुरिमा प्रेम्ण आत्यन्तिकोऽपि
कुर्या गोविन्दनाथाच्युतचरणदृशो नो धियस्त्वां प्रपन्नाः॥
(जपसूत्रम्)

वेदान्त-विचारमें अध्यारोप एवं अपवाद नाम्नी जो दो प्रसिद्ध रीतियाँ हैं, उनके द्वारा परब्रह्ममें शुद्ध नैर्गुण्य-मात्रत्वका साधन करना अभिप्रेत है, वह साधित हो। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि ब्रह्मसूत्रद्वारा उपन्यस्त लिङ्गोंसे निरतिशय सार्वज्ञादि-गुणवान् होना भी ब्रह्मवस्तुमें अबाधित-रूपसे निविष्ट है। 'एतत् सर्वस्य मधु' 'प्रियः पुत्रात्' 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' 'रसो वै सः' इत्यादि श्रौत प्रमाणों-द्वारा एवं स्वारसिक अनुभवके बलसे उसमें परमप्रेमास्पदत्वके साथ-साथ आनन्दमयत्व भी बिना किसी विरोधसे ज्ञात होता है। एवं साधिष्ठ प्रमाण-बलसे यद्यपि हे भगवन्! तुममें निर्विशेष-सविशेष-सर्वाधिक रसमत्त्व आदि भावोंका समस्त विवादोंके निरासपूर्वक निगमन हो सकता है, तथापि हे गोविन्द! हे नाथ! एकमात्र तुम्हारे अच्युत श्रीचरणोंकी शरणागतिके बिना उस धामकी परम समापत्ति असम्भव है, अतः केवलमात्र तुम्हारे प्रति निवेदन-परक बुद्धियोग हमें दो; क्योंकि गीतामें 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' ऐसी मोहकीचको पारकर निकल भागनेकी इच्छावाले हम-जैसोंके उत्तरणके लिये सुदृढ़ सेतु-स्वरूपिणी तुम्हारी तारकवाणी है। तुम्हारे कृपा-कण-रूपी धनसे अतिरिक्त, साधन-वैयर्थ्यके परिहारपूर्वक साधन-सार्थक्यकी सिद्धिके लिये गमनका कोई मार्ग नहीं है।

उपसंहारमें यहाँ संयोजित सम्मेलनमें प्रयोजिष्यमाण समस्त वागर्थ-प्रतिपत्तिसे योग्य प्रेरणा हममें भरनेके लिये, शौर्य एवं माधुर्यके चरम सीमारूप श्रीराम-कृष्णकी हम प्रार्थना करते हैं—

कालिन्दीरोधसीशो ललितसुरगिरां वेणुगीतैर्हरिर्यः
शैलान् विद्रावयंस्तैः प्रकटयति परां वाचमोङ्कारयंनिम्।
सम्यक् संधानशूरो गमयति निधनं रावणो यो दशास्यं
प्रत्यक्चैतन्यमूर्ती वचसि विहरतामत्र तौ रामकृष्णौ॥
(जपसूत्रम्)

पवेलांन) के प्रमुख गुरु-सहयोगी रहे हैं। विदेशीय सज्जनके नामसे प्रकाशित ग्रन्थोंका व्यापक प्रचार होगा, इस दृष्टिसे स्वामीजीने अपने अमूल्य सहयोगको लोक-लोचनसे प्रायः गुप्त ही रक्खा है—अनुवादिका।

चार पुरुषार्थोंमें धर्मकी प्रधानता आवश्यक

आजका समाज अर्थाश्रित है। आज प्रत्येक वस्तुका, प्रत्येक क्रियाका महत्त्व रुपयोंमें आँका जाता है। धनकी आधार-शिलापर इस समय सम्पूर्ण विश्वकी सामाजिक व्यवस्थाका भवन खड़ा है। आज जितने वाद हैं, वे पूँजीवाद हों या साम्यवाद, सबके विचारका आधार अर्थ है। सब आर्थिक व्यवस्थापर ही समाज चलेगा, यह मानकर तब आर्थिक व्यवस्थाके ढाँचेके सम्बन्धमें विचार करते हैं।

मनुष्यके चार पुरुषार्थ माने गये हैं। चार ही तत्त्व ऐसे हैं, जिनके लिये मनुष्यका उद्योग केन्द्रित होता है—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। इनमेंसे मोक्ष किसी सामाजिक व्यवस्थाका आधार नहीं बन सकता; क्योंकि मोक्ष व्यक्तिको अन्तर्मुख करता है, वह वैयक्तिक रूपसे प्राप्त होता है और उसमें भेदका निषेध है। जब कि समस्त सामाजिक व्यवस्था भेदके आधारपर चलती है। मोक्षके साधकके लिये कहा गया—

'गुणदोषदृशोर्दोषः, गुणस्तूभयवर्जितः।'

'गुन यह उभय न देखिअ, देखिअ सो अबिबेक।'

गुण और दोष देखना ही दृष्टिका दोष है, यह तथ्य मानकर जो चलेगा, उसके द्वारा समाजकी व्यवस्था कैसे होगी? समाज-व्यवस्था तो गुणका स्थापन तथा दोषका निवारण करनेके लिये होती है।

एक श्रद्धेय महापुरुष हैं। उनके समीप एक मित्रको लेकर गया। मित्रने प्रणाम करके प्रार्थना की—'मेरे कल्याणका कुछ साधन बतानेकी कृपा करें।'

वे बोले—'प्रभो! आप मुझसे क्यों यह लीला करते हैं? मुझमें उपदेश देनेकी वासना कहीं होगी, इसीलिये आप ऐसा कहते हैं। अन्यथा आप तो आनन्दघन श्रीकृष्ण हैं। आपकी कृपासे ही तो मेरा कल्याण सम्भव है।'

सर्वत्र भगवद्दर्शन करनेवाले महापुरुषके मुखसे ऐसी ही बात सुननेकी मुझे आशा थी। लेकिन समाजमें तो साधक जिज्ञासु हैं। उनको मार्गदर्शक भी चाहिये। ऐसे महापुरुषकी उपस्थिति ही जगत्के लिये परम मङ्गलकारी है, यह ठीक है; वास्तविक समाजकी व्यवस्था ऐसे महापुरुषोंसे नहीं चलती।

म[illegible] पामर, विषयी, साधक और सिद्ध—ये मनुष्योंकी चार श्रेणियाँ हैं। पामरोंको समाजकी व्यवस्था दे दी जाय तो वे यहाँ नरक बना देंगे। उन्हें तो पाप करनेमें सुख मिलता है। अतः उन्हें प्रशासित किया जाना चाहिये। वे प्रशासक नहीं हो सकते। साधक एकान्तदृष्टि होता है। उसकी दृष्टि केवल साधनपर होती है। वह दूसरोंके पचड़ेमें पड़ना नहीं चाहता। अतः समाज-व्यवस्थासे वह दूर भागता है। सिद्ध महापुरुष हैं। वे समदर्शी हैं। उनके लिये न कोई बुरा, न अच्छा। उनसे समाज-व्यवस्था होनेसे रही। अतः समाजके ठीक व्यवस्थापक विषयी अर्थात् धर्मानुसार प्राप्त विषयभोगोंका सेवन करनेवाले लोग ही हो सकते हैं। वही समाज या संस्थाके ठीक संचालनके योग्य अधिकारी हैं। समाज-व्यवस्थाके संचालकोंके सम्बन्धमें हम इस बातको यदि ध्यानमें रक्खें तो हमें यह निर्णय करनेमें कठिनाई नहीं होगी कि समाज-व्यवस्थाका मूलाधार क्या होना चाहिये।

मोक्ष—पुरुषार्थ समाज-व्यवस्थाका आधार नहीं बन सकता। यह बात समझना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि मोक्ष है निर्गुण, निर्विकार, निर्विषय, अद्वैत सत्तासे एकात्मताकी अनुभूति। उसमें व्यवहार नहीं है। अतः उसका साधक व्यवहार-से उपरत निवृत्तिमार्गसे चलकर ही उसे पाता है।

काम—पुरुषार्थको समाज-व्यवस्थाका आधार बनाया नहीं जा सकता। कामाश्रित समाज तो पशुओंका, पिशाचोंका समाज होगा। संसारमें कामोपभोगकी कोई सीमा नहीं है। विश्वमें पदार्थ असीम नहीं हैं। उनकी सीमा है और मनकी कामना संतुष्ट होना जानती नहीं है। अतः आप मनुष्यकी आवश्यकता-पूर्तिकी बात भले कर सकते हैं, किंतु उसकी कामना-संतुष्टिकी बात सोच पाना तो सृष्टिकर्ताके भी वशकी बात नहीं। इसलिये काम पुरुषार्थको समाज-व्यवस्थाका आधार बनानेकी बात सोची ही नहीं जा सकती।

अर्थ—के आधारपर बना समाज आज है ही। कठिनाई यह है कि अर्थ सार्वभौम पुरुषार्थ नहीं है। यह केवल अपवादरूप पुरुषार्थ है। धनके लिये ही धनोपार्जन करनेवाले थोड़े ही लोग संसारमें होते हैं। खाने-खर्चनेका नाम नहीं, बस बैंकोंमें रकम बढ़ती जाय—ऐसे अर्थ-पुरुषार्थी होते तो हैं; किंतु अपवादरूप। अर्थका प्रयोजन है—भोग अथवा धर्म। धन कमाया जाता है अपने तथा अपने लोगोंकी सुख-सुविधाके लिये अथवा दान, सेवा, परोपकार, यज्ञादिके लिये।

आजका अर्थके आधारपर चलनेवाला समाज प्रायः काम-पुरुषार्थियोंके हाथमें पड़ गया है। आज जो समाजके संचालक, प्रशासक, व्यवस्थापक हैं, उनको अर्थ चाहिये ऐन्द्रियिक सुखोपभोगके लिये। अर्थको दूसरोंके भी सुखोपभोगका ही साधन वे मानते हैं। इस प्रकार अर्थका माध्यम होनेपर भी

समाज-व्यवस्थाका मूलसूत्र आज कामके हाथमें है और कामना-में है क्रोध, द्वेष, संघर्ष, हिंसा स्पर्धा, भय, लोभ आदि। आज समाजमें सर्वत्र इन्हीं दुर्गुणोंका प्राधान्य देखा जा सकता है।

अर्थ क्या है? मनुष्यके श्रमका प्रतीक। सोने-चाँदी या कागजके टुकड़ेका नाम अर्थ नहीं है। मनुष्य श्रम करके एक उत्पादन करता है। इस उत्पादनका नाम अर्थ है। विभिन्न मनुष्योंके उत्पादनका विनिमय करनेके लिये धातु या सिक्केको माध्यम बनाया गया है। मनुष्यका उत्पादन ही मूल-रूपमें अर्थ है।

प्रत्येक मनुष्यमें उत्पादन-क्षमता नहीं होती। बच्चे, वृद्ध, रोगी तथा अनेक अवस्थाओंमें स्त्रियाँ अनुत्पादक वर्गमें हैं। कलाजीवी, शिक्षक, सैनिक आदि अनेक वर्ग ऐसे हैं जो स्वयं उत्पादन नहीं करते। वे उत्पादकोंकी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करते हैं। इस प्रकार अनुत्पादक परोपजीवी-वर्ग मनुष्य-संख्याका एक बहुत बड़ा भाग है। यह भाग इतना बड़ा है कि उत्पादक-वर्गकी संख्या उसके एक तिहाईसे भी कम है।

उत्पादनमें लगे मनुष्योंकी उत्पादन-क्षमता भी समान नहीं होती। मनुष्योंकी शारीरिक शक्ति, परिस्थिति तथा उन्हें प्राप्त होनेवाले साधनोंमें बहुत अन्तर रहता है। एक व्यक्ति आज जितना श्रम कर पाता है, उतना श्रम बीस वर्ष बाद नहीं कर सकता। इस प्रकार अर्थके उत्पादनमें सब समान श्रम करें, ऐसा नियम कभी बन नहीं सकता। शारीरिक श्रमकी अपेक्षा अर्थके उत्पादनमें बुद्धिकी महत्ता बहुत अधिक है और मनुष्योंमें बौद्धिक तारतम्य शारीरिक शक्तिकी अपेक्षा बहुत ही अधिक है।

सब मनुष्य अर्थके उत्पादक नहीं हैं। जो उत्पादक भी हैं, उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमतामें बहुत न्यूनाधिकता है। दूसरी ओर मनुष्य उत्पादक हों या न हों, सबके मन लग-भग समान रूपसे (मोक्षके विवेकी साधकों तथा सिद्धपुरुषों-को छोड़ दें तो) भोगलिप्सु हैं। सभी उच्चतम इन्द्रियसुख-सुविधाएँ चाहते हैं। यह दूसरी बात है कि अपनी हीन परिस्थितिके कारण उनकी कामनाने अभी एक सीमातक जाना ही सीखा है। अवसर मिलनेपर वे किसी दूसरेसे कम महत्त्वाकाङ्क्षी सिद्ध नहीं होंगे। ऐसी अवस्थामें अर्थको सामाजिक व्यवस्थाका आधार बनाकर कोई भी वाद परस्पर स्पर्धा, संघर्ष, असंतोषको दूर कर सकेगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

केवल धर्म-पुरुषार्थ ऐसा है जो समाजको स्पर्धा, संघर्ष तथा अशान्तिसे रहित व्यवस्था दे सकता है। ऐसा समाज काल्पनिक नहीं है। प्राचीन भारतीय समाजकी व्यवस्था धर्मपर आधारित थी। आजके विवेचक यदि अपनी दृष्टिपर पड़ा अर्थके प्राधान्यका चश्मा उतारकर देखें तो उन्हें रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें समाज-व्यवस्थाकी आधारशिलाके रूपमें धर्म दिखायी देगा।

अर्थका उपार्जन किसलिये? इसका उत्तर होना चाहिये धर्मके लिये, दूसरोंकी सेवा-सहायताके लिये। प्राचीन भारतका हिंदू-गृहस्थ प्रार्थना करता है भगवान्से—

'अतिथिर्मे भूयात्!'

'अतिथि प्राप्त हों मुझे! उनकी सेवाका मुझे सुअवसर मिले।' अर्थका संग्रह किया जाता था यज्ञके लिये—त्यागके लिये। प्रतिस्पर्धा चलती थी कि किसके द्वारपर नित्य कितने अतिथि आते हैं, कौन कितने यज्ञ करता है, किसने कितने कूप, सरोवर, धर्मशालाएँ बनवायीं अथवा अन्नसत्र खुलवाये? इस प्रतिस्पर्धामें सात्त्विक सुख और जनहित था।

धर्म संयम सिखलाता है। मन तथा इन्द्रियोंका संयम और त्यागके लिये वस्तुपरिग्रह। प्रत्येक व्यक्ति जब अपने उपभोगको यथासम्भव सीमित करना चाहता है, अपनी आवश्यकताएँ घटानेमें गौरव मानता है और दूसरोंकी सेवाके लिये श्रम करता है, तब समाजमें स्वयं पदार्थोंका बाहुल्य हो जाता है। असंतोषको अवकाश नहीं रहता। अभावग्रस्त-के सौ सहायक निकल पड़ते हैं। इस प्रकार सुखी, शान्त, सम्पन्न समाज तो धर्माश्रित समाज ही बन सकता है।

जहाँ सबको अधिक-से-अधिक सुख-सुविधा, अधिक-से-अधिक उपभोगके पदार्थ अपेक्षित हैं और कम-से-कम श्रम करनेकी इच्छा है, वहाँसे कंगाली, असंतोष, भ्रष्टाचार, अशान्ति और संघर्षको कैसे दूर किया जा सकता है? आज तो समाज-व्यवस्थाके मूलमें ही दुःख तथा अशान्तिके बीज हैं।

भोगपरायणताका त्याग किये बिना मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। अतः यदि मनुष्यको सुख-शान्ति अभीष्ट है तो उसे अपने वैयक्तिक जीवनसे ही नहीं, सामाजिक जीवनसे भी भोगपरायणता, पदार्थ-संग्रहवृत्ति अर्थात् अर्थ तथा कामको तिरस्कृत-उपेक्षित करना होगा और धर्मको समाजकी व्यवस्था-का मूलाधार बनाना पड़ेगा। जीवनमें धर्मकी प्रतिष्ठा, धर्मको सम्मान देकर ही हम सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। —सु०

१०८ की संख्याका गौरव, महत्त्व और रहस्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी सरस्वती)

हिंदू-धर्म और हिंदूशास्त्रोंमें १०८ की संख्याकी बड़ी मान्यता है। पूजा-पाठमें १०८ की गिनती पवित्र मानी जाती है और १०८ दानेकी माला भी जपके लिये पवित्र समझी है। विरक्त संत-महात्माओं और संन्यासियों आदिको भी श्री १०८ से विभूषित और सम्बोधित किया जाता है और अनेक अन्य स्थानोंपर भी, जहाँ किसी बड़ी शुभसूचक संख्याके प्रयोगका अवसर आता है तो १०८ की संख्या अथवा उसके गुणितकी कोई संख्या काममें लायी जाती है। प्रतिदिनकी श्वासकी संख्याका जप भी २१६०० माना जाता है जो कि १०८ की संख्याका २०० गुणा है। उपनिषदोंकी संख्या भी एक सहस्रसे ऊपर होनेके कारण प्रमाणित उपनिषदोंकी संख्या १०८ ही नियत की गयी है, जिनके नाम मुक्तिकोपनिषद्में दिये हुए हैं। अतः इस १०८की संख्यामें उसकी पवित्रता, गौरव और महत्त्वका कोई रहस्य छिपा हुआ है, जो अन्वेषणीय है।

हिंदू-धर्म और शास्त्रोंमें स्वस्तिक 卐 चिह्नकी भाँति एक अन्य ☆ पञ्चशिख चिह्नका भी प्रयोग देखनेमें आता है। दोनों चिह्नोंके प्रयोगमें पूज्यभाव, मान्यता और शुभ-सूचनाके लक्षण समान रूपमें पाये जाते हैं। पञ्चशिख चिह्नको पञ्चानन भी कहते हैं परंतु पञ्चशिख अथवा पञ्चानन नाम स्वस्तिक चिह्नके नामके समान प्रसिद्ध नहीं हैं; तथापि उसका प्रयोग अनेक धार्मिक स्थानों, मन्दिरों, पुस्तकों एवं फर्मोंके व्यापार चिह्नोंमें देखनेमें आता है।

इस चिह्नकी आकृतिमें पाँच शिखाएँ और पाँच बाहरको खुले हुए मुख हैं, इसलिये इसको पञ्चशिख और पञ्चानन चिह्न कहते हैं। इन दोनों नामोंके बड़े पवित्र और गौरवसम्पन्न होनेका यह प्रमाण है कि जगद्विख्यात महर्षि कपिलके प्रशिष्यका नाम, जिनके सांख्यदर्शनपर सूत्र भी हैं, पञ्चशिखाचार्य रक्खा जाना उनकी दार्शनिक योग्यता एवं आध्यात्मिक उत्कर्षका सूचक माना जाता है। सिंहके लिये भी पञ्चशिख शब्दका प्रयोग होता है। इसी चिह्नसे सम्बन्धित होनेके कारण पञ्चानन शब्दकी महिमा भी बड़े गौरव और आध्यात्मिक महत्त्वकी है। शिवजीके पाँच मुख माननेसे उनके परमशक्तिशाली अनन्तवीर्य और अमित-विक्रम होनेका भाव प्रदर्शित होता है। पञ्चशिख और पञ्चानन शब्द समस्त पशुओंके राजा मृगेन्द्र (सिंह) के लिये भी प्रयुक्त होते हैं और पञ्चानन शब्द सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्चके भावमें—यथा विद्यापञ्चानन, तर्कपञ्चानन आदि शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता है। गीतामें श्रीकृष्णको उनके विश्वरूपमें कालानलनिभ व्यात्ताननं कहकर उन्हें कालरूप बतलाया है। सृष्टिके संहारक होनेके कारण शिवजीके लिये भी पञ्चानन शब्दका प्रयोग उपयुक्त ही है। इस चिह्नमें भी पाँचों मुख व्यात्तानन ही हैं, जो बाहरकी ओर समस्त दिशाओंमें खुले हुए हैं। शिवजीके पाँच मुख नहीं थे और न सिंहके पाँच मुख होते हैं, जिससे उनको वाच्यार्थमें पञ्चानन कहा जाय और न सिंहकी पाँच शिखाएँ होती हैं, जिससे उसे पञ्चशिख कहा जाय। ये शब्द आलंकारिक भावमें उनके लिये प्रयुक्त हुए हैं और उनके गौरवके सूचक हैं। अतः इस गौरवके आधारको जानना आवश्यक है, जिसे कि यह चिह्न ही पूर्णतया सिद्ध करता है।

संक्षेपतः इस चिह्नका निर्माण भीतर और बाहर दोनों ओर १०८ अंशके कोणोंपर निर्भर है और यह चिह्न सृष्टिकी रचनाका सूचक है। १०८ अंशके रेखाचित्रके अतिरिक्त और किसी अन्य संख्याके अंशोंके कोणवाले रेखाचित्रसे सृष्टिके निर्माणका रूप प्रदर्शित नहीं हो सकता, जैसा कि आगे दिखलाया गया है। अतः १०८की संख्याका महत्त्व है।

सृष्टिकी रचनामें पञ्चीकरण

सृष्टिकी रचनाके आधार पाँच तत्त्व—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अपनी पृथक्-पृथक् मूलावस्थामें तो सूक्ष्म और अव्यक्त हैं, परंतु सृष्टिकी रचनाके लिये उनका परस्पर सम्मिश्रण होता है जिसे पञ्चीकरण कहते हैं। इसके द्वारा प्रत्येक तत्त्वमें पाँचों तत्त्वोंके अंश आकर वे तत्त्व इन्द्रियगोचर व्यक्त रूप धारण कर लेते हैं। यह सृष्टि ईश्वरकी प्रकृतिका साकार और सगुण रूप है, जिसके द्वारा निराकार और निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ करता है। सृष्टिकी

रचनाका इतना बड़ा महत्त्व होनेके कारण सृष्टिकी रचनाके उपादान-कारण पञ्चतत्त्वोंके पञ्चीकरणका महत्त्व और भी अधिक है; क्योंकि समस्त विराट् इस पञ्चीकरणके आधारपर ही ठहरा हुआ है। प्रलयमें इस पञ्चीकरणका ही लय हो जाता है और पुनः सृष्टिके उदयके लिये पुनः पञ्चीकरणकी आवश्यकता होती है। पञ्चशिख अथवा पञ्चानन चिह्न इसी पञ्चीकरणका प्रतीक है। अतः इसका महत्त्व, गौरव और मान्यता स्वयं सिद्ध है।

पञ्चीकरणका स्वरूप

पंञ्चीकरणद्वारा प्रत्येक तत्त्वमें पाँचों तत्त्व रहते हैं। वे पाँचों तत्त्व किस-किस अनुपातमें एक दूसरेमें रहते हैं, इस सम्बन्धमें अनेक सम्मतियाँ हैं, जिनमें दो प्रधान हैं। एक तो यह कि प्रत्येक तत्त्वके २५ भाग होकर २१ भाग तो अपनेमें रहते हैं और शेष चारमेंसे एक-एक भाग अन्य चारों तत्त्वोंमें चला जाता है। दूसरी सम्मति यह है कि प्रत्येक तत्त्वका आधा भाग अपनेमें रहता है और शेष आधे भागके चार भाग होकर $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{8}$ (एक बटा आठ—एक बटा आठ) प्रत्येक अन्य तत्त्वमें जा मिलता है।

किसी अनुपातसे भी हो, सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक तत्त्वमें प्रधान बड़ा अंश तो अपना रहता है और अल्पांश दूसरे तत्त्वोंके उसमें आ मिलते हैं। पञ्चीकरणका पिछला प्रकार जिसमें अपना आधा अंश रहता है, अधिकतर लोकमान्य और प्रसिद्ध है।

पञ्चशिख चिह्नकी उत्पत्ति

इस पञ्चीकरणकी विधिको रेखाचित्रद्वारा प्रदर्शित करनेसे पञ्चशिख चिह्नका आविर्भाव होता है। तदर्थ अ इ उ ऋ ऌ को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशका प्रतीक मानकर उनके पाँच स्थान नियत करें। जैसे कि—
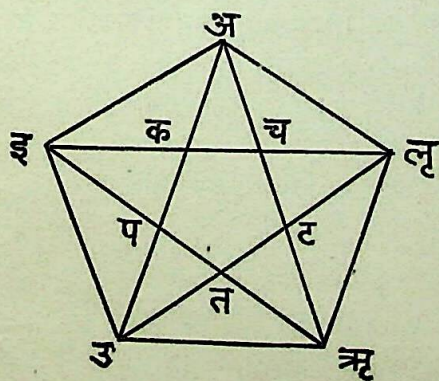
इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वके एक अंशको काली रेखाओंद्वारा उसके निकटस्थ दाँयें-बाँयें दो तत्त्वोंसे मिला दें। इस मिलानसे एक अ इ उ ऋ ऌ पञ्चभुज-क्षेत्रका निर्माण हो जाता है। पुनः जब उनमेंसे प्रत्येक तत्त्वका एक अंश अपने सामनेके शेष दो-दो तत्त्वोंसे मिलता है जैसे कि ऊपरके चित्रमें दिखाया गया है तो अ इ उ ऋ ऌ पञ्चभुज क्षेत्रके भीतर क च ट त प एक अन्य पञ्चभुज क्षेत्रका निर्माण हो जाता है और उसकी प्रत्येक भुजापर एक-एक शिखा अ इ उ ऋ ऌ विन्दुओंतक विस्तृत होकर एक पञ्चशिख आकृतिका निर्माण हो जाता है। इस प्रकार यह पञ्चशिख चिह्न पञ्चतत्त्वोंके पञ्चीकरणका प्रतीक बन जाता है। उसी पञ्चशिख चिह्नके बाहरकी ओर अ च ऌ, ऌ ट ऋ, ऋ त उ, उ प इ और इ क अ पाँच व्यावृत्त मुखाकार कोणोंका निर्माण हो जाता है, जिससे कि वही पञ्चशिख रेखाचित्र पञ्चानन अथवा पञ्चमुख चिह्न बन जाता है।

इस रेखाचित्रसे एक रहस्य और प्रकट होता है कि जिस प्रकार हमने अ इ उ ऋ ऌ को पञ्चतत्त्व मानकर क च ट त प पञ्चभुज-क्षेत्र और उसकी शिखाओं तथा बहिःकोणोंके निर्माण-द्वारा एक पञ्चशिख और पञ्चानन चिह्न प्राप्त किया, उसी
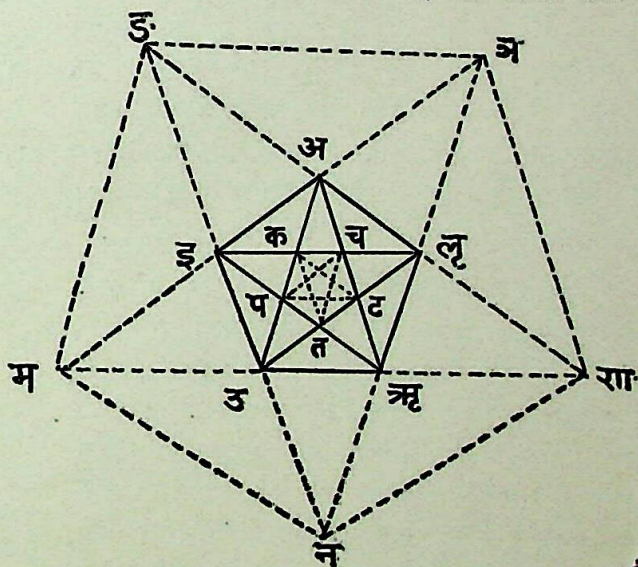
प्रकार यदि हम क च ट त प को पञ्चतत्त्वोंका प्रतीक मानकर वहाँपर पञ्चीकरणकी विधिके अनुसार रेखाएँ खींचें जैसे कि उसके भीतरकी बिन्दुओंकी रेखासे प्रकट होता है तो क च ट त प के भीतर भी एक नवीन पञ्चभुजक्षेत्र तथा पञ्च-शिख और पञ्चाननके रेखाचित्र बन जायँगे। और इसी प्रकार यदि अ इ उ ऋ ऌ से बाहर पञ्चीकरणकी विधिके

अनुसार रेखाएँ खींचें तो उसके ऊपर भी जैसा कि बाहरकी ओर विन्दुओंकी रेखाओंसे प्रकट होता है ङ ञ ण न म एक पञ्चभुज-क्षेत्र एवं तत्सम्बन्धी एक पञ्चशिख और एक पञ्चानन रेखाचित्रका उदय हो जाता है। और यदि इसी प्रकार एकके भीतर एक और एकके बाहर एक लगातार पञ्चीकरण-की विधिपूर्वक रेखाचित्र बनाते जाइये तो अनन्त संख्यामें पञ्चीकरणके प्रतीक पञ्चशिख और पञ्चाननके चिह्नोंका निर्माण होता चला जायगा। यह प्रमाण इस तथ्यका है कि पाञ्च-भौतिक पञ्चीकरण और उसके द्वारा निरन्तर अनादि और अनन्त सृष्टिका निर्माण होता रहता है। अतः पञ्चशिख कहें अथवा पञ्चानन चिह्न जिसका आकार निम्न प्रकार है—

वह अनादि और अनन्त सृष्टिकी रचनाका प्रतीक होनेके कारण अत्यन्त पूज्य, पवित्र, शुभसूचक और श्रेयस्कर माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पञ्चशिख चिह्नका आधार पञ्चकोणीय पञ्चभुज-क्षेत्र है और उसका प्रत्येक कोण १०८ अंशका होता है। अतः पञ्चशिख चिह्नका महत्त्व और गौरव जाननेके पश्चात् यह पञ्चशिख चिह्न भी १०८ अंशके कोणके आधारपर ही स्थिर रहनेके कारण इस १०८ की संख्याका महत्त्व और भी अधिक है।

रेखागणितके विज्ञानद्वारा यह स्पष्ट है कि पाँचों तत्त्वों-के पञ्चीकरणको रेखाचित्रके प्रतीकका स्वरूप देनेके लिये पञ्चभुज रेखाचित्रके अतिरिक्त अन्य कोई रेखाचित्र त्रिभुज, चतुर्भुज, षड्भुज तथा सप्तभुज आदिके रूपमें समर्थ नहीं होता। यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक रेखाचित्रका निर्माण उसके कोणोंके अंशोंपर निर्भर रहता है। जिस अंशके कोण-पर पञ्चभुज रेखाचित्र बनता है, उस अंशका कोण अन्य [illegible]ी रेखाचित्रका नहीं हो सकता। अतः पञ्चभुज रेखाचित्र [illegible] कि भूतपञ्चीकरण और सृष्टिकी रचनाका एकमात्र [illegible]तीक है उसका तथा उसके परिणामस्वरूप पञ्चशिख चिह्नके कोणका महत्त्व और गौरव निराला ही है। इसीलिये उस कोणके अंशकी संख्या समस्त सृष्टिकी रचनाका मूलाधार होनेके कारण अपने महत्त्व और गौरवका अद्वितीय और अनुपम स्थान रखती है।

यह कोण १०८ अंशका किस प्रकार होता है

यहाँ पञ्चभुज-क्षेत्रसे अभिप्राय ऐसे पञ्चभुज-क्षेत्रसे है जिसकी समस्त भुजाएँ समान हों और उसके फलस्वरू[illegible] उससे बने समस्त आन्तरिक कोण भी समान होंगे। अ[illegible] प्रत्येक कोणके अंश निकालनेके लिये एक समान पञ्चभुज-क्षेत्र अ इ उ ऋ लृ खींचे—
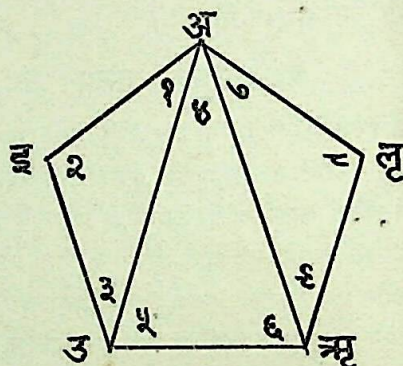
इसको अ उ और अ ऋ दो रेखाओंद्वारा अ इ उ, अ उ ऋ, और अ ऋ लृ तीन त्रिभुजोंमें बाँट दें। इ[illegible] प्रकार अ इ उ ऋ लृ पञ्चभुज-क्षेत्रके पाँचों कोण उ[illegible] तीनों त्रिभुजोंके कोणोंमें विभाजित होकर तीनों त्रिभुजों[illegible] कोणोंमें परिणत हो गये अर्थात् त्रिभुज अ इ उ के कोण १,२,३ और त्रिभुज अ उ ऋ के कोण ४,५,६ ए[illegible] त्रिभुज अ ऋ लृ के कोण ७,८,९ ने मिलकर १+४+७ [illegible] पञ्चभुज-क्षेत्रका एक कोण, २ ने दूसरा कोण, ३+५ [illegible] तीसरा कोण, ६+९ ने चौथा कोण और ८ ने पाँचवाँ को[illegible] बना दिया।

एक त्रिभुजके तीनों कोण १८० अंशके होते हैं अत[illegible] तीनों त्रिभुजोंके समस्त कोण १८०×३=५४० अंशके हु[illegible] और यही योग अ इ उ ऋ लृ पञ्चभुज-क्षेत्रके पाँचों समा[illegible] कोणोंका हुआ। अतः इस पञ्चभुज-क्षेत्रका प्रत्येक को[illegible] ५४०÷५=१०८ अंशका हुआ। इस पञ्चभुज-क्षेत्रके प्रत्येक कोणके साथका बाहरका कोण भी जो पञ्चानन[illegible] प्रत्येक आननका कोण है १०८ अंशका है। अतः १०[illegible] की संख्याका इतना आदर, सम्मान और महत्त्व है।

(२)

[लेखक—महंत श्रीदीनबंधुदासजी]

भारतीय-संस्कृतिमें १०८ अङ्कका बड़ा महत्त्व है। मालाके दाने १०८ रक्खे जाते हैं। अपनेसे पूज्योंके नामके पू[illegible]

१०८ लिखा जाता है। इस १०८ के अङ्कमें माया एवं ब्रह्मतत्त्वका गूढ रहस्य छिपा हुआ है।

० शून्य—इसमें ० शून्य पूर्णब्रह्मका द्योतक है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

१ अङ्क—व्यापक एक ब्रह्म अविनासी।
सत चेतन घन आनँदरासी॥

उस सर्वशक्तिमान्‌की एकताको प्रकट करता है।

एकमेवाद्वितीयम्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

८ अङ्क—यह मायाका द्योतक है, यदि हम ८ के पहाड़ेके गुणकोंके गुणनफलको जोड़ें तो उसके योगमें घटत-बढ़त होती रहेगी। यही हाल मायाका है, वह निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है। यथा—

८×१=८
८×२=१६=१+६=७
८×३=२४=२+४=६
८×४=३२=३+२=५
८×५=४०=४+०=४
८×६=४८=४+८=१२=१+२=३
८×७=५६=५+६=११=१+१=२
८×८=६४=६+४=१०=१+०=१
८×९=७२=७+२=९
८×१०=८०=८+०=८

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ ब्रह्म-स्वरूप अङ्क १ व ० शून्य आया, वहींपर माया विलीन हो गयी और वही अङ्क एक आ गया। इसके बाद फिर माया अङ्क प्रारम्भ हो गया।

ब्रह्मतत्त्व—इसी प्रकार यदि १०८ को जोड़ दिया जाय (१+०+८) तो ९ परिणाम आयेगा। यदि ९ के पहाड़ेके गुणकोंके गुणनफलको जोड़ें तो परिणाम ९ ही रहेगा। न तो वह घटेगा, न बढ़ेगा, इस प्रकार ब्रह्म न तो घटता है, न बढ़ता है। यथा—

९×१=९
९×२=१८=१+८=९
९×३=२७=२+७=९
९×४=३६=३+६=९
९×५=४५=४+५=९
९×६=५४=५+४=९
९×७=६३=६+३=९
९×८=७२=७+२=९
९×९=८१=८+१=९
९×१०=९०=९+०=९

आद्याशक्ति एवं ब्रह्म—सीताराम एवं राधाकृष्ण नामका बीजगणितकी भाँति मूल्याङ्कन (Find the value of) निकालें तो भी परिणाम १०८ आयेगा; क्योंकि सीता एवं राधा शक्तिस्वरूप हैं। एवं राम और कृष्ण ब्रह्म-स्वरूप। यथा—

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	ऋ	ॠ	अं	अः
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०

प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व
२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९

श	ष	स	ह	क्ष	त्र	ज्ञ
३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६

अब यदि उपर्युक्त वर्णमालाकी क्रम-संख्याके अनुसार सीता-राम एवं राधा-कृष्णके वर्णोंका मान निकालें तो निम्न परिणाम उपलब्ध होंगे—

सीताराम

= सीता + राम
= [स्+ई+त्+आ] + [र्+आ+म]
= [३२+४+१६+२] + [२७+२+२५]
= (५४) + (५४)
= १०८

राधाकृष्ण

= राधा + कृष्ण
= [र्+आ+ध्+आ] + [क्+ऋ+ष्+ण]
= [२७+२+१९+२] + [१+११+३१+१५]
= (५०) + (५८)
= १०८

इस प्रकार १०८ अङ्क आद्याशक्ति एवं ब्रह्म दोनोंका द्योतक है।

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

आत्मदान

[पुराण-कथा]

(लेखक—श्री 'चक्र')

विद्याधराधिप जीमूतकेतुके कुमार जीमूतवाहन परिभ्रमण करने निकले थे। उस दिन अमरावतीकी ओर न जाकर उन्होंने दूसरी दिशा अपनायी। उत्ताल तरङ्गोंसे क्रीड़ा करता अमित विस्तीर्ण नीलोदधि उनको सदा ही परमाकर्षक प्रतीत हुआ है। सृष्टिमें अनन्तके तीन ही प्रतीक हैं—उदधि, आकाश और उत्तुङ्ग हिमगिरि। इनमें भी आकाश नित्य दृश्य होनेसे कदाचित् ही किसीके मनमें कोई प्रेरणा दे पाता है; किंतु उत्ताल तरङ्गमान सागर तथा हिमाच्छादित उत्तुङ्ग शृङ्गके समीप पहुँचकर प्राणी अपनी अल्पताका अनुभव सहज कर पाता है। उसका अहंकार शिथिल हो जाता है वहाँ।

जीमूतवाहन चले जा रहे थे आकाशमार्गसे। अकस्मात् उनकी दृष्टि रमणक द्वीपपर पड़ी। सुविस्तीर्ण वह मनोहर द्वीप और उसमें क्रीड़ा करते नागकुमार; किंतु विद्याधर राजकुमारके लिये इसमें कोई आकर्षण नहीं था। उन्हें चौंकाया था एक विचित्र दृश्यने। द्वीपके वहिर्भागमें पर्याप्त दूर एक अन्तरीप चला गया था सागरगर्भमें और उसके लगभग छोरपर एक उज्ज्वल शिखर दीख रहा था।

'रमणकपर तो कोई उच्च पर्वत नहीं है। यह हिम-शिखर यहाँ और इतना उज्ज्वल! अपने मूलभागसे ऊपरतक उज्ज्वल यह पर्वत! इस नागालयके वासियोंने यहाँ कोई रजतगिरि बनाया है!' जितना ध्यानसे उसे देखा, जिज्ञासा उतनी बढ़ती गयी। जीमूतवाहन उतर पड़े वहाँ।

'हे भगवान्!' कोई भी उस दृश्यको देखकर विह्वल हो उठता और जीमूतवाहन तो अत्यन्त सदय पुरुष थे। वे स्तम्भित, चकित, भयातुर स्तब्ध खड़े रह गये। वहाँ कोई पर्वत नहीं था। वह पर्वताकार दीखता अस्थिपञ्जरोंका अकल्पित अम्बार था वहाँ। अखण्ड कङ्काल और उनमें मेद, मांस, स्नायुका लेश नहीं। जैसे किसीने सावधानीसे स्वच्छ करके वे सहस्र-सहस्र कङ्काल वहाँ एक क्रमसे सजाये हैं।

'क्या है यह? क्यों हैं ये अस्थियाँ यहाँ?' उस अस्थिपर्वतके ऊपरी भागके कङ्काल ऐसे लगते थे जैसे उन्हें अभी कुछ सप्ताह पूर्व ही वहाँ रक्खा गया है। लेकिन पूछें किससे? उस अशुभ स्थानके आसपास कोई प्राणी नहीं था। लगभग पूरा अन्तरीप नीरव निर्जन पड़ा था।

रमणक द्वीप नागालय है। असंख्य नाग निवास करते हैं वहाँ। अनेक सिरधारी भयङ्कर विषधर नागोंकी वह भूमि—उसपर दूसरे प्राणी न पाये जायँ यह स्वाभाविक था। पशु-पक्षी वहाँ सकुशल रह नहीं सकते और समुद्रावेष्टित उस पाषाणभूमिमें क्षुद्र पिपीलिकादिका प्रवेश नहीं। लेकिन रमणकद्वीप नाग-निवास है, सर्पावास नहीं। वहाँ पृथ्वीके साधारण सर्प पहुँच नहीं सकते। जन्मसिद्ध इच्छानुरूप रूप धारण करनेवाली उपदेव जाति नाग वहाँ रहती है। उसके नगर हैं, भवन हैं, समाजव्यवस्था है। नागपुरुष विषधर, सहज सर्पशरीरी हैं, यदि वे अपनी सिद्धिका उपयोग करके कोई अन्य रूप धारण न किये हों।

जीमूतवाहन उस अन्तरीपसे द्वीपके मध्यभागकी ओर बढ़े। उन विद्याधरके लिये नागजातिसे कोई भय नहीं। यह उपदेव जाति तो मित्र है उनके पिताकी

और शत्रु भी होती तो उनका सिद्धदेह विषसे प्रभावित होनेवाला तो नहीं है।

'क्या है वहाँ अन्तरीपके अन्तिम भागमें ?' जो पहला नाग मिला, उससे ही जीमूतवाहनने पूछ लिया।

'वहाँ ?' नाग-तरुणने एक बार दृष्टि उधर उठायी और उसके नेत्र भर आये। उसका मुख कान्तिहीन हो गया। उसने बड़े खिन्न स्वरमें कहा—'हममें कोई उस अशुभ स्थानकी चर्चा नहीं करता। उस ओर मुख करनेसे भी हम बचते रहते हैं। लेकिन उसका आतङ्क हममेंसे सबके सिरपर सदा रहता है।'

'ऐसी क्या बात है वहाँ ?' जीमूतवाहनने अपना परिचय नहीं दिया; किंतु वे इस द्वीपके अतिथि हैं, यह उन्होंने सूचित कर दिया।

'आज पूर्णिमा है। स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी आज वहाँ उतरेगा और एक नागके शरीरका अस्थिपञ्जर उस पर्वतपर और बढ़ जायगा।' उस नाग-तरुणने व्यथित स्वरमें बतलाया। 'आजके दिन आप उस ओर जानेकी भूल न करें।'

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी !' जीमूतवाहन कुछ सोचते खड़े रहे। अब उन्हें स्मरण आया कि इस द्वीपमें कहीं उन्होंने पीतरंग नहीं देखा है। वस्त्र, भित्तियाँ तथा अन्य सब स्थान इस रंगसे रहित हैं। पूरे द्वीपमें जैसे पीले रंगको अशुभ मानकर बहिष्कृत कर दिया गया है।

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी क्या ?' अब भी कोई बात समझमें नहीं आयी थी। मस्तक उठाया तो वह नाग-तरुण जा चुका था। किसी वृद्ध नागसे ही यह पहेली सुलझ सकती है।

'विनताका पुत्र गरुड़ है हमारा आतङ्क। प्रत्येक पर्वपर उसके लिये बहुत-सी खाद्यसामग्री लेकर किसी-न-किसीको अन्तरीपके अन्तमें स्थित उस महावृक्ष-के समीप जाना पड़ता है। वह वैनतेय सामग्रीके साथ उसको लानेवालेको भी उदरस्थ कर लेता है। प्रहरभर पश्चात् वह अस्थिराशिके ऊपर उसके कङ्कालको उगल-कर उड़ जाता है।' बड़ी कठिनाईसे वृद्ध नागने रुक-रुककर क्रोध, क्षोभ तथा पीड़ाके स्वरमें यह बतलाया।

'आपलोग यह सब क्यों करते हैं ?' जीमूतवाहन-ने पूछा।

'अपनी जातिको समूल नष्ट होनेसे बचानेके लिये।' वृद्ध बोल रहा था। 'गरुड़ अमर है। वह निखिल सृष्टिके नायक श्रीनारायणका अनुग्रहभाजन, उनका वाहन है। समस्त सुर-असुर एक साथ होकर भी समरमें उससे पराभव ही पायेंगे। उसका रोषभाजन बनना स्वीकार करे, ऐसा सृष्टिमें कोई नहीं। वह पहले संख्याहीन नागोंका स्वेच्छा-विनाश करता था। यह तो हमारे उस वंश-शत्रुकी उदारता ही है कि पर्वपर केवल एक बलिका वचन लेकर उसने हमारी जातिको जीवित छोड़ रक्खा है।'

'वैनतेय श्रद्धा-सम्मान-भाजन हैं समस्त प्राणियोंके यह तो सत्य है।' जीमूतवाहनने स्वीकार किया। 'श्रीहरिके उन प्रमुख पार्षदकी अवमानना कोई सदाशय करना नहीं चाहेगा।'

'हम सब अपनी आदि माताके सहज सपत्नी-द्वेषका दण्ड भोग रहे हैं। इसमें गरुड़को दोष कैसे दिया जा सकता है ?' वृद्धने कहा। 'केवल शतैकशीर्षा कालियने एक बार साहस किया था। व्यर्थ था उसका औद्धत्य। विनतानन्दनके वामपक्षका एक आघात ही बड़े कष्टसे वह सह सका। कालिन्दीके सौभरिप्रशप्त ह्रदमें शरण न ली होती उसने तो उसका वंश उसी दिन नष्ट गया था। लेकिन श्रीकृष्णकी कृपा—उनके चरणचि[illegible] अङ्कित मस्तक, वह अब गरुड़से निर्भय हो गया है। आज पर्वका दिन है। उन हिरण्यवर्णके गगनसे अवतरण-कालमें द्वीपपर स्वच्छन्द घूमता केवल कालिय देखा जा सकता है। यद्यपि गरुड़ने अपने आश्वासनको

भंग कभी नहीं किया; किंतु हममें किसीका साहस उनको दूरसे देखनेका भी नहीं है ।'

'अतीतमें कुछ भी हुआ, अब इसे विरमित होना चाहिये ।' जीमूतवाहन जैसे अपने-आपसे कुछ कह रहे हों, ऐसे बोल रहे थे । 'नागमाता कद्रूने देवी विनताके साथ छल किया । माताके अनुरोधपर नाग भगवान् सूर्यके रथाश्वोंकी पूँछमें लिपट गये । दूरसे अश्वोंकी श्वेत पूँछ श्याम जान पड़ी । देवी विनता अपने वचनों—स्पर्धाके नियममें पराजित होकर पुत्रके साथ नागमाताकी दासी हो गयीं । माता तथा स्वयंको इस दास्यभावसे मुक्त करनेके लिये अमृत-हरण करनेमें वैनतेयको जो श्रम करना पड़ा, सुरोंसे जो उनके सम्मान-भाजन थे, संग्राम करना पड़ा और दास्यकालमें नागोंने उनको वाहन बनाकर उनका तथा उनकी माताका बार-बार तिरस्कार करके जो अपराध किया, उससे नागोंपर उनका रोष सहज स्वाभाविक था ।'

'हम गरुड़को दोष नहीं देते ।' वृद्ध नागने दुःख-भरे स्वरमें कहा । 'गरुड़ अन्न अथवा फलका आहार करनेवाला प्राणी तो है नहीं । उसे जब जीवाहार ही करना है, सृष्टिके प्रतिपालकसे अपने शत्रुओंको आहार-के रूपमें प्राप्त करनेका वरदान लिया उसने । हम तो अपने पूर्वपुरुषोंके अपकर्मका प्रायश्चित्त कर रहे हैं । अनन्त कालतकके लिये यह प्रायश्चित्त हमारी जातिके सिर आ पड़ा है ।'

'ऐसा नहीं । संतानोंको सदा-सदाके लिये पूर्वपुरुषों-अपराधका दण्डभाजन बनाये रक्खा जाय, यह उचित [illegible]हीं है ।' जीमूतवाहनने गम्भीर स्वरमें कहा । [illegible]ड़ इतने निष्ठुर नहीं हो सकते । वे यज्ञेशवाहन—[illegible]झे उनकी उदारतापर विश्वास है ।'

'हतभाग्य नागोंके अतिरिक्त विश्वमें सबके लिये वे उदार हैं ।' वृद्ध नागने दीर्घ श्वास ली ।

'आज पर्व-दिन है । किसको जाना है आज गरुड़की बलि बनकर ?' जीमूतवाहनने कुछ क्षण सोचकर पूछा ।

'द्वीपमें उस आवासमें आज क्रन्दनका अविराम स्वर उठ रहा है ।' वृद्धको यह बतलानेमें बहुत क्लेश हुआ । वह वहाँसे एक ओर चला गया । लेकिन उसने जो बता दिया था, उस संकेतसे उस अभिशापग्रस्त आवास-को ढूँढ़ लेना कठिन नहीं था ।

'बेटा ! तुम युवक हो । अभी तुम्हारे आमोद-प्रमोदके दिन हैं । तुम मुझे जाने दो । इस वृद्धके बिना भी तुम इस परिवारका पालन कर सकते हो ।' एक वृद्ध नाग उस परिवारमें रोते-रोते पुत्रसे अनुनय कर रहा था ।

'मैं जाऊँगी । मेरे न रहनेसे परिवारकी कोई हानि नहीं । अब मैं आपकी संतानोंकी रक्षामें शरीर देकर धन्य बनूँ, इतनी अनुमति दें ।' वृद्धा नागिनने नेत्र पोंछ लिये ।

'मातः ! गरुड़को नारी-बलि कभी भेजी नहीं गयी । कोई नाग-परिवार इतना कापुरुष नहीं निकला अबतक कि किसी नारीको मृत्युके मुखमें भेजकर अपनी रक्षा करना चाहे । गरुड़को भी ऐसी बलि कदाचित् ही स्वीकार होगी । उन्होंने यदि इसे अपनी प्रवञ्चना अथवा अपमान माना तो सम्पूर्ण जाति विपत्तिमें पड़ जायगी । पिताकी सेवामें पुत्रका शरीर लगे, यह पुत्रका परम सौभाग्य आज मुझे मिल रहा है । मैं इसे नहीं छोड़ूँगा ।' युवक नागमें कोई व्याकुलता नहीं थी । पूरे परिवारमें वही स्थिर, धीर दीख रहा था ।

'यह अवसर आप सब आज मुझे देंगे ।' अचानक उस आवासमें पहुँचकर जीमूतवाहनने सबको चौंका दिया ।

'आप ? आप कोई हों, हमारे अतिथि हैं ।' पूरा परिवार एक साथ सम्मानमें उठ खड़ा हुआ । 'दयाधाम !

आप हमारी परीक्षा न लें। यह तो हमारी पारिवारिक समस्या है।'

'मुझे आपका कोई सत्कार स्वीकार नहीं। मैं अतिथि हूँ और आपसे गरुड़के पास उनकी बलि-सामग्री ले जानेका अवसर माँगने आया हूँ।' जीमूत-वाहनके स्वरमें दृढ़ निश्चय था। 'आप मुझे निराश करेंगे तो भी मैं वहाँ जाऊँगा। आप मुझे रोक नहीं सकते।'

'अतिथिकी ऐसी माँग कैसे स्वीकार की जा सकती है?' बड़े धर्मसंकटमें पड़ गया वह नाग-परिवार। जीमूतवाहन आसनतक स्वीकार नहीं कर रहे थे। अन्त-में उनका आग्रह विजयी हुआ। वे जायँगे ही, यह जानकर अत्यन्त अनिच्छा होनेपर भी नाग-परिवारको उनकी बात माननी पड़ी। यद्यपि वह युवक जीमूतवाहन-के साथ उस अन्तरीपके अन्तिम छोरतक गया। रमणक द्वीपमें आज पहली बार एक साथ दो व्यक्ति उस बलि-स्थानतक पहुँचे थे। जीमूतवाहनने बहुत आग्रह करके किसी प्रकार युवकको लौटा दिया।

आकाशमें गरुड़के पक्षोंसे उठता सामवेदकी ऋचाओं-का संगीत गूँजा और उन तेजोमयका स्वर्णिम प्रकाश दिशाओंमें फैल गया। सम्पूर्ण धरा और सागरका जल जैसे स्वर्णद्रवसे आर्द्र हो उठा। उच्च अस्थिराशि स्वर्ण-वर्णा बन गयी। जीमूतवाहन इस छटाको मुग्ध नेत्रोंसे देख रहे थे। भय-कम्पका उनमें लेश नहीं था।

एक बार प्रचण्ड वायुसे सागर क्षुब्ध हुआ और तब गरुड़ उतर आये महातरुके समीप अन्तरीपपर। उन्होंने बलि-सामग्री प्रथम भोजन करना प्रारम्भ किया। उन्हें भी आश्चर्य था—'नाग मानवाकारमें आया, यह तो उसकी सिद्धि और इच्छा; किंतु यह है कैसा? यह न रोता है, न भयभीत है और न व्याकुल ही दीखता है।'

क्षुधातुर गरुड़के समीप अधिक विचार करनेका अवकाश नहीं था। बलि-सामग्री शीघ्र समाप्त करके उन्होंने जीमूतवाहनको समूचा निगल लिया और उड़कर अस्थि-पर्वतके ऊपर बैठ गये। भोजनके पश्चात् वे विश्राम करके नागदेहका कङ्काल उगलकर तब जाया करते हैं।

'महाभाग! तुम कौन हो?' गरुड़ने बड़ी व्याकुलता अनुभव की। उन्होंने कण्ठ इधर-उधर घुमाया। अस्थि-समूहसे उड़कर नीचे आये। लगता था कि उन्होंने कोई तप्त लौह निगल लिया है। जीमूतवाहनको उन्होंने झटपट उगल दिया और पूछा—'तुम नाग नहीं हो सकते। तपस्वी ब्राह्मण अथवा भगवद्भक्त, जीव-दया-सम्पन्न पुरुष ही अपने तेजसे मेरे भीतर ऐसी ज्वाला उत्पन्न कर सकता है। अनजानमें हुआ मेरा अपराध क्षमा करो! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?'

जीमूतवाहनका सर्वाङ्ग गरुड़के जठर-द्रवसे लथपथ हो रहा था। उनके शरीरमें कई खरोंचें थीं; किंतु वे अविचलित, स्थिर शान्त स्वरमें बोले—'आप परम पुरुष-के कृपाभाजन, परम कारुणीक यदि इस क्षुद्र विद्याधर-पर प्रसन्न हैं तो आजसे इस नागद्वीपके निवासियोंको अभय दें।'

'महाभागवत, दयाधर्मके धनी जीमूतवाहन!' गरुड़-ने अब उन्हें पहचान लिया था। 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें प्रसन्न करके तो मैं अपने आराध्यका प्रसाद प्राप्त करूँगा। तुम निश्चिन्त बनो! अब इस द्वीपप[illegible] गरुड़ नहीं उतरेगा।'

वैनतेय गरुड़ ही नहीं, कोई सर्पाहारी गरुड़ [illegible] भी उस द्वीपपर फिर कभी नहीं उतरा।

[महाकवि अश्वघोषके 'नागानन्द'के किञ्चित् आधारपर]

भंग कभी नहीं किया; किंतु हममें किसीका साहस उनको दूरसे देखनेका भी नहीं है।'

'अतीतमें कुछ भी हुआ, अब इसे विरमित होना चाहिये।' जीमूतवाहन जैसे अपने-आपसे कुछ कह रहे हों, ऐसे बोल रहे थे। 'नागमाता कद्रूने देवी विनताके साथ छल किया। माताके अनुरोधपर नाग भगवान् सूर्यके रथाश्वोंकी पूँछमें लिपट गये। दूरसे अश्वोंकी श्वेत पूँछ श्याम जान पड़ी। देवी विनता अपने वचनों—स्पर्धाके नियममें पराजित होकर पुत्रके साथ नागमाताकी दासी हो गयीं। माता तथा स्वयंको इस दास्यभावसे मुक्त करनेके लिये अमृत-हरण करनेमें वैनतेयको जो श्रम करना पड़ा, सुरोंसे जो उनके सम्मान-भाजन थे, संग्राम करना पड़ा और दास्यकालमें नागोंने उनको वाहन बनाकर उनका तथा उनकी माताका बार-बार तिरस्कार करके जो अपराध किया, उससे नागोंपर उनका रोष सहज स्वाभाविक था।'

'हम गरुड़को दोष नहीं देते।' वृद्ध नागने दुःख-भरे स्वरमें कहा। 'गरुड़ अन्न अथवा फलका आहार करनेवाला प्राणी तो है नहीं। उसे जब जीवाहार ही करना है, सृष्टिके प्रतिपालकसे अपने शत्रुओंको आहार-के रूपमें प्राप्त करनेका वरदान लिया उसने। हम तो अपने पूर्वपुरुषोंके अपकर्मका प्रायश्चित्त कर रहे हैं। अनन्त कालतकके लिये यह प्रायश्चित्त हमारी जातिके सिर आ पड़ा है।'

'ऐसा नहीं। संतानोंको सदा-सदाके लिये पूर्वपुरुषों-[illegible]अपराधका दण्डभाजन बनाये रक्खा जाय, यह उचित [illegible]हीं है।' जीमूतवाहनने गम्भीर स्वरमें कहा। [illegible]ड़ इतने निष्ठुर नहीं हो सकते। वे यज्ञेशवाहन—[illegible]झे उनकी उदारतापर विश्वास है।'

'हतभाग्य नागोंके अतिरिक्त विश्वमें सबके लिये वे उदार हैं।' वृद्ध नागने दीर्घ श्वास ली।

'आज पर्व-दिन है। किसको जाना है आज गरुड़की बलि बनकर?' जीमूतवाहनने कुछ क्षण सोचकर पूछा।

'द्वीपमें उस आवासमें आज क्रन्दनका अविराम स्वर उठ रहा है।' वृद्धको यह बतलानेमें बहुत क्लेश हुआ। वह वहाँसे एक ओर चला गया। लेकिन उसने जो बता दिया था, उस संकेतसे उस अभिशापग्रस्त आवास-को ढूँढ़ लेना कठिन नहीं था।

'बेटा! तुम युवक हो। अभी तुम्हारे आमोद-प्रमोदके दिन हैं। तुम मुझे जाने दो। इस वृद्धके बिना भी तुम इस परिवारका पालन कर सकते हो।' एक वृद्ध नाग उस परिवारमें रोते-रोते पुत्रसे अनुनय कर रहा था।

'मैं जाऊँगी। मेरे न रहनेसे परिवारकी कोई हानि नहीं। अब मैं आपकी संतानोंकी रक्षामें शरीर देकर धन्य बनूँ, इतनी अनुमति दें।' वृद्धा नागिनने नेत्र पोंछ लिये।

'मातः! गरुड़को नारी-बलि कभी भेजी नहीं गयी। कोई नाग-परिवार इतना कापुरुष नहीं निकला अबतक कि किसी नारीको मृत्युके मुखमें भेजकर अपनी रक्षा करना चाहे। गरुड़को भी ऐसी बलि कदाचित् ही स्वीकार होगी। उन्होंने यदि इसे अपनी प्रवञ्चना अथवा अपमान माना तो सम्पूर्ण जाति विपत्तिमें पड़ जायगी। पिताकी सेवामें पुत्रका शरीर लगे, यह पुत्रका परम सौभाग्य आज मुझे मिल रहा है। मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।' युवक नागमें कोई व्याकुलता नहीं थी। पूरे परिवारमें वही स्थिर, धीर दीख रहा था।

'यह अवसर आप सब आज मुझे देंगे।' अचानक उस आवासमें पहुँचकर जीमूतवाहनने सबको चौंका दिया।

'आप? आप कोई हों, हमारे अतिथि हैं।' पूरा परिवार एक साथ सम्मानमें उठ खड़ा हुआ। 'दयाधाम!

आप हमारी परीक्षा न लें। यह तो हमारी पारिवारिक समस्या है।'

'मुझे आपका कोई सत्कार स्वीकार नहीं। मैं अतिथि हूँ और आपसे गरुड़के पास उनकी बलि-सामग्री ले जानेका अवसर माँगने आया हूँ।' जीमूतवाहनके स्वरमें दृढ़ निश्चय था। 'आप मुझे निराश करेंगे तो भी मैं वहाँ जाऊँगा। आप मुझे रोक नहीं सकते।'

'अतिथिकी ऐसी माँग कैसे स्वीकार की जा सकती है?' बड़े धर्मसंकटमें पड़ गया वह नाग-परिवार। जीमूतवाहन आसनतक स्वीकार नहीं कर रहे थे। अन्तमें उनका आग्रह विजयी हुआ। वे जायँगे ही, यह जानकर अत्यन्त अनिच्छा होनेपर भी नाग-परिवारको उनकी बात माननी पड़ी। यद्यपि वह युवक जीमूतवाहनके साथ उस अन्तरीपके अन्तिम छोरतक गया। रमणक द्वीपमें आज पहली बार एक साथ दो व्यक्ति उस बलि-स्थानतक पहुँचे थे। जीमूतवाहनने बहुत आग्रह करके किसी प्रकार युवकको लौटा दिया।

आकाशमें गरुड़के पक्षोंसे उठता सामवेदकी ऋचाओंका संगीत गूँजा और उन तेजोमयका स्वर्णिम प्रकाश दिशाओंमें फैल गया। सम्पूर्ण धरा और सागरका जल जैसे स्वर्णद्रवसे आर्द्र हो उठा। उच्च अस्थिराशि स्वर्णवर्णा बन गयी। जीमूतवाहन इस छटाको मुग्ध नेत्रोंसे देख रहे थे। भय-कम्पका उनमें लेश नहीं था।

एक बार प्रचण्ड वायुसे सागर क्षुब्ध हुआ और तब गरुड़ उतर आये महातरुके समीप अन्तरीपपर। उन्होंने बलि-सामग्री प्रथम भोजन करना प्रारम्भ किया। उन्हें भी आश्चर्य था—'नाग मानवाकारमें आया, यह तो उसकी सिद्धि और इच्छा; किंतु यह है कैसा? यह न रोता है, न भयभीत है और न व्याकुल ही दीखता है।'

क्षुधातुर गरुड़के समीप अधिक विचार करनेका अवकाश नहीं था। बलि-सामग्री शीघ्र समाप्त करके उन्होंने जीमूतवाहनको समूचा निगल लिया और उड़कर अस्थि-पर्वतके ऊपर बैठ गये। भोजनके पश्चात् वे विश्राम करके नागदेहका कङ्काल उगलकर तब जाया करते हैं।

'महाभाग! तुम कौन हो?' गरुड़ने बड़ी व्याकुलता अनुभव की। उन्होंने कण्ठ इधर-उधर घुमाया। अस्थि-समूहसे उड़कर नीचे आये। लगता था कि उन्होंने कोई तप्त लौह निगल लिया है। जीमूतवाहनको उन्होंने झटपट उगल दिया और पूछा—'तुम नाग नहीं हो सकते। तपस्वी ब्राह्मण अथवा भगवद्भक्त, जीव-दया-सम्पन्न पुरुष ही अपने तेजसे मेरे भीतर ऐसी ज्वाला उत्पन्न कर सकता है। अनजानमें हुआ मेरा अपराध क्षमा करो! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?'

जीमूतवाहनका सर्वाङ्ग गरुड़के जठर-द्रवसे लथपथ हो रहा था। उनके शरीरमें कई खरोंचें थीं; किंतु वे अविचलित, स्थिर शान्त स्वरमें बोले—'आप परम पुरुषके कृपाभाजन, परम कारुणीक यदि इस क्षुद्र विद्याधरपर प्रसन्न हैं तो आजसे इस नागद्वीपके निवासियोंको अभय दें।'

'महाभागवत, दयाधर्मके धनी जीमूतवाहन!' गरुड़ने अब उन्हें पहचान लिया था। 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें प्रसन्न करके तो मैं अपने आराध्यका प्रसाद प्राप्त करूँगा। तुम निश्चिन्त बनो! अब इस द्वीपपर गरुड़ नहीं उतरेगा।'

वैनतेय गरुड़ ही नहीं, कोई सर्पाहारी गरुड़ भी उस द्वीपपर फिर कभी नहीं उतरा।

[महाकवि अश्वघोषके 'नागानन्द'के किञ्चित् आधारपर]

मृत्युसे न डरें !

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आप वृद्ध होते जा रहे हैं और मृत्युकी काली छाया अपने ऊपर छायी देखकर डरे-डरे-से रहते हैं। न जाने किस दिन हम यह जीवन-लीला समाप्तकर चल बसें—यही गुप्त भय आपको निरन्तर परेशान कर रहा है।

मृत्युका भय मनुष्यके लिये सबसे अधिक विक्षुब्ध करनेवाला भय है। बहुत-से व्यक्ति तो इस सीमातक संत्रस्त रहते हैं कि प्रतिक्षण, प्रतिपल कल्पनामें मरा करते हैं।

भर्तृहरिके मतानुसार संसारके प्रायः सभी विषयों, सांसारिक सम्बन्धों—पुत्र-पुत्री, जमीन-जायदादके प्रति अति लगाव, मोह-बन्धनको भयका मूल कारण माना गया है।

अपनी हीनताके बोधके साथ-साथ भी मनुष्यके मनमें नाना प्रकारके काल्पनिक भय उठकर उसे परेशान करते रहते हैं। बहुत-से भय तो ऐसे हैं जिन्हें वास्तवमें डर कहा जा सकता है, पर बहुत-से तो व्यर्थके ही होते हैं।

कोई अशुभ या किसीकी मौतका समाचार सुनकर मृत्युकी बात सोचना और घबरा जाना एक प्रकारका डरपोकपन है, जिसे त्याग देना चाहिये। भय-जैसे नोविकारके वशीभूत होकर हमेशा दुश्चिन्ताओंमें फँसे ता मनकी एक कमजोरी है, जिसका त्याग करना क है।

वार्षि

भ आप जिन आशङ्काओंसे व्यर्थ ही भयभीत होते हैं, स्तवमें वे आपके जीवनमें कभी भी आनेवाली नहीं हैं। मनुष्यका शरीर सौ वर्षोंतक निष्कण्टक और पूर्ण स्वस्थ रहनेके लिये बना है। बहुत-से व्यक्ति आज भी ऐसे हैं, जो दीर्घ आयुमें भी सुखकी साँस ले रहे हैं। कुछ उदाहरण लीजिये—

सोवियत संघके सबसे बूढ़े व्यक्तिको भारत-निमन्त्रण

आगराका एक समाचार है। सोवियत संघके सबसे वृद्ध व्यक्ति शिराली फरजाली मुस्लिमोरको भारतकी दस दिनोंकी यात्राके लिये निमन्त्रित किया गया है। मुस्लिमोर इस समय १५९ वर्षकी लंबी आयुके पुरुष हैं। वे आज भी सोवियत संघके अजरबेजान गणराज्यमें रहते हैं। मुस्लिमोरकी इस यात्राका सारा खर्च व्यय-समितिद्वारा वहन किया जायगा। समिति आगरामें उनके सम्मानमें एक अभिनन्दन-समारोहका आयोजन भी करेगी।

१४० वर्षकी आयुमें भी श्रम

मास्को सोवियत समाचार एजेन्सी 'तास'ने बताया है कि काकेशियाके एक पहाड़ी गाँवमें एक सौ चालीस वर्षकी आयुका एक मुसलमान गड़रिया है जो इस आयुमें भी नित्य प्रातःकाल अपने बागमें कुछ शारीरिक श्रम करता है। वृद्धका नाम है—नासरबाबा मुस्तफायेव और वह दक्षिणी रूसके अजरबेजान क्षेत्रका सबसे बूढ़ा व्यक्ति है। नासरबाबाकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि उसके गाँव, तागिरजालमें जितने निवासी हैं, वे सब लगभग नासरबाबाके ही वंशज हैं। प्रतिदिन बिस्तर छोड़कर नासरबाबा ईश्वरका भजन (अल्लाहकी इबादत) करते हैं और फिर मधुर दूध और मक्खनमिश्रित रोटीका नाश्ता कर अपने बागमें श्रम करने चले जाते हैं। जीवनके एक सौ दस साल उन्होंने भेड़ोंकी रखवाली करने, घूमने-फिरने, जंगलकी खुली हवामें विचरण करने

और सक्रिय जीवन जीनेमें व्यतीत किये हैं। उनके आहारमें दूधसे बनी चीजों और सूखे मेवोंकी प्रधानता रहती है।

फिर आप कम-से-कम सौ वर्षतक जीनेकी तो बात सोचें।

एक सौ बीस वर्षकी आयु पायी

बैरिया (बलिया) समीपस्थ गाँव जमातपुरके बाबू सरवनसिंहकी मृत्यु लगभग १२० वर्षकी आयुमें हो गयी। गाँवमें आप अन्ततक खूब शारीरिक कार्य करते रहे। अपने खेत और कृषि-कार्योंमें उनकी पूरी दिलचस्पी रही।

एक सौ बारह वर्षीय तपस्वी स्वयंप्रकाशको श्रद्धाञ्जलियाँ

देहरादूनका एक समाचार है—

एक सौ बारह वर्षीय तपस्वी स्वामी स्वयंप्रकाशके प्रति जिनका निर्वाण हालमें हरिद्वारमें हुआ, रविवारको एक सभामें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गयीं। स्थानीय साधु-बेला उदासीन-आश्रममें आयोजित इस सभामें स्वामी कृष्णानन्द-जीने कहा कि 'स्वामी स्वयंप्रकाशने हरिद्वारमें ८० वर्षों-तक अनाथोंको पढ़ाया और बदलेमें कभी किसीसे एक पैसा भी नहीं लिया।'

देहरादूनके स्वामी रामतीर्थ मिशनके प्रधान स्वामी गोविन्दप्रकाशजीने अध्यक्ष-पदसे कहा कि 'स्वयंप्रकाशजी-के चले जानेसे ऐसा लगता है कि मानो विद्वानोंका विद्युत्-केन्द्र समाप्त हो गया।'

एक सौ एक वर्षकी आयु

पटनाका एक समाचार है—

दुमका अनुमण्डलके घुम्मेश्वरनाथ धौनी गाँवके संस्कृत-संजीवन पुस्तकालयके संस्थापक श्रीरामेश्वर पाठककी माता (स्थानीय हिंदी-साहित्य-सेवी श्रीरञ्जनसूरिदेव मूलनाम राजकुमार पाठककी पितामही) का देहावसान एक सौ एक वर्षकी उम्रमें उनके अपने ग्राम स्थित घरपर गत २७ मार्च १९६५ को हो गया।

फिर आपको जल्दी मरनेकी बात सोचनेसे क्या लाभ है।

११७ वर्षीय वृद्धद्वारा साइकिल सीखनेका प्रयास

रेवती (बलिया) मझौवा ग्रामके कन्हई गिरिके टोलामें ११७ वर्षीय एक वृद्धद्वारा साइकिल चलानेकी कला सीखनेके प्रयासके समाचार मिले हैं। कहा जाता है कि उक्त व्यक्ति इस आयुमें भी काफी बलिष्ठ और नवयुवकोंके समान फुर्तीसे कार्य करता दिखायी देता है।

आप व्यर्थ ही वृद्धावस्थासे डर रहे हैं। आप सोचिये, अभी आपको बहुत जीना है। आपका जीवन बहुत लम्बा है। केवल उचित खान-पान, निश्चिन्त मन, ईश्वराराधन, भजन-पूजन और मानसिक शान्तिकी आवश्यकता है। आप अपनी रुचिका कोई श्रमपूर्ण कार्य करते रहिये और मनको प्रसन्न रखिये।

मृत्युका भय त्याग दीजिये

मृत्यु जब आयेगी, देखा जायगा। फिलहाल तो मृत्युका भय बिल्कुल अपने मनसे निकाल दीजिये। अपने तथा जगत्के कल्याणकी सैकड़ों बातें हैं, जिनमें आप दिलचस्पी ले सकते हैं और जिंदगीका आनन्द बढ़ा सकते हैं।

याद रखिये—

जीवितं च शरीरं च आत्मना सह जायते।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः॥
(महा० शान्ति० २३१ ।)

अर्थात् जन्मके साथ ही शरीर और जीवन सत्ता आ जाते हैं। दोनोंकी वृद्धि साथ-साथ होती है और दोनोंका नाश भी साथ-साथ हो जाता है।

सम्बन्धके अनुरोधसे अन्य प्राणियोंके लिये भी यथाशक्ति-अपने पासके अन्न-जलका विभाग करना चाहिये ।

(मनुस्मृति अध्याय ११)

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ (११)

जिसके माता-पिता वृद्ध हों, स्त्री पतिव्रता हो और पुत्र नन्हा-सा हो, उसे सैकड़ों अपकर्म करके भी उन सबका पालन-पोषण करना चाहिये । यह मनुने कहा है ।

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥
(१९)

जो मनुष्य अकर्मियोंसे धन लेकर सत्कर्मियोंको देता है, वह अपनेको जहाज बनाकर उन दोनोंको दुःख-समुद्रसे पार करता है ।

याज्ञवल्क्यका कथन

(याज्ञवल्क्यस्मृति—आचाराध्याय)

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम् ।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥
(२०९)

थके हुए व्यक्तिको शय्या, आसन आदि देकर उसके श्रमका हरण करना, यथाशक्ति औषध आदि दानसे रोगियोंकी परिचर्या, विष्णु आदि देवका गन्धमाल्यसे पूजन, द्विजोंके चरणोंका धोना और उनके ही उच्छिष्टका मार्जन—ये सब पूर्वोक्त गोदानके तुल्य जानने चाहिये ।

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥
(३४०)

जो राजा अन्यायसे अपने कोषको बढ़ाता है, वह थोड़े ही कालमें लक्ष्मीसे हीन होकर बान्धवोंसहित नष्ट हो जाता है ।

(याज्ञवल्क्यस्मृति—व्यवहाराध्याय)

गणद्रव्यं हरेद् यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत् ॥
(१८७)

जो मनुष्य समुदायके द्रव्यको चुराता है और संविदको लाँघता है, उसके सब धनको छीनकर अपने देशमेंसे निकाल दे ।

कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम् ॥
(१८८)

समूहवालोंके मध्यमें जो समूहके हितको कहें, उनके वचनको सब करें ।

समूहकार्यं आयातान् कृतकार्यान् विसर्जयेत् ।
सदानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥
(१८९)

समूहकी कार्यसिद्धिके लिये जो अपने समीप आये हों और उन्होंने अपना कार्य कर लिया हो तो दान, मान, सत्कारसे उनका पूजन करके वह राजा विसर्जन करे ।

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत् ॥
(१९०)

राजाके पास समूहके कार्यार्थ महाजनोंके भेजे हुए जो-जो सुवर्ण, वस्त्र आदि राजासे मिले, वह विना याचनाके ही महाजनोंको स्वयं निवेदन कर दें ।

धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥
(१९१)

वेद और स्मृतिमें कहे धर्मके ज्ञाता बाह्य और भीतरसे शुद्ध धनके निर्लोभी हों, कार्योंके विचारकर्ता, समूहके हितवादी हों, उनका वचन आदरसे सब मनुष्य मानें ।

चरकसंहितामें उपदेश

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मने ॥
(चरकसंहिता, विमानस्थान, अध्याय ३)

सत्य बोलना, प्राणियोंपर दया करना, दान करना, देवताओंका पूजन करना ।

धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥

सात्त्विक और वृद्ध-सम्मत पुरुषोंके साथ नित्य उठना-बैठना ।

इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।

आयुकी रक्षाके लिये ये पूर्वोक्त उपाय औषध-रूपमें कहे गये हैं ।

महाभारतमें उपदेश

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥
(महाभारत शान्ति० ६६ । ८)

हे युधिष्ठिर ! जो अपने जाति, बान्धव, सम्बन्धी और

मित्रोंको विपत्तिसे बचाते हैं, उनको वानप्रस्थ आश्रमका पुण्य प्राप्त होता रहता है।

बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत्॥
(२०)

हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! सारी अवस्थाओंमें बालक, वृद्ध आदि सबके ऊपर जो दया करता है, वह सब आश्रमोंके फलका देनेवाला हैं।

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च।
अर्हयन् पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत्॥
(३०)

हे पुरुषव्याघ्र! जो राजा समयपर प्राणियोंको धन, दान और उपहार देता है, वह साधुओंसे सेवित सारे आश्रमोंके फलका अधिकारी बन जाता है।

महाभारत शा० अ० ५६

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि॥
(१२)

हे कुरुश्रेष्ठ! सबसे प्रथम राजाको प्रजारञ्जनके निमित्त देवता और द्विजोंकी यथाविधि पूजा करनी चाहिये।

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते॥
(१३)

हे कुरुवंशश्रेष्ठ! जब राजा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा कर लेता है तो वह धर्मसे उऋण हो जाता है, जिससे उसकी लोकमें बड़ी पूजा होती है।

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते॥
(४४)

राजाको सर्वदा गर्भिणी स्त्रीके समान सहनशील होना चाहिये। हे महाराज! इस विषयमें जो उपपत्ति है, वह आप सुनो।

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥
(४५)

जिस तरह गर्भिणी अपने मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुका परित्याग कर देती है और गर्भके बालकका हित करती रहती है।

वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥
(४६)

उसी तरह राजाको भी सर्वदा धर्मानुसार बर्ताव करना चाहिये। राजा भी अपने हितकारी कामोंको छोड़कर प्रजाके हितके लिये कार्य करें।

मार्कण्डेयपुराणमें उपदेश

तुषाङ्गारास्थिशीर्णानि रजोवस्त्रादिकानि च।
नाधितिष्ठेत्तथा प्राज्ञः पथि चैवं तथा भुवि॥
(मार्कण्डेयपु० ३४। २५)

भूसी, भस्म, हड्डी, अपवित्र मिट्टी तथा धूलि और अपवित्र वस्त्रपर न बैठें। विद्वान्को चाहिये कि बिना आसनके पृथ्वी एवं मार्गपर भी न बैठें।

पन्था देयो ब्राह्मणानां राज्ञो दुःखातुरस्य च।
विद्याधिकस्य गुर्विण्या भारार्तस्य यवीयसः॥
(३४। ३७)

ब्राह्मण, राजा, दुखी व्यक्ति तथा बीमारको रास्ता दे देना चाहिये। विद्वान्, गर्भिणी स्त्री तथा जिसके सिरपर बोझा हो एवं शिशुको भी रास्ता दे देना चाहिये।

मूर्खोन्मत्तव्यसनिनो विरूपान् मायिनस्तथा।
न्यूनाङ्गांश्चाधिकाङ्गांश्च नोपहासैर्न दूषयेत्॥
(३४। ४६)

मूर्ख, पागल, मद्य आदि व्यसनोंका सेवन करनेवाले, कुरूप तथा जिनके अङ्ग-भङ्ग हो एवं जिनके अङ्ग अधिक हों (जैसे किसीके छः अँगुलियाँ हैं) और जो मायावी हों, उनकी हँसी नहीं उड़ानी चाहिये।

गुरूणामासनं देयमभ्युत्थानादिसत्कृतम्।
अनुकूलं तथाऽऽलापमभिवादनपूर्वकम्॥
(३४। ३२)

गुरुओंको आसन देना चाहिये तथा उठकर उनका सत्कार करना चाहिये। प्रणाम करनेके बाद अनुकूल बातचीत करनी चाहिये।

तथानुगमनं कुर्यात्प्रतिकूलं न संलपेत्॥
(३४। ३२)

गुरुका अनुगमन करना चाहिये, गुरुके विरुद्ध [illegible] नहीं कहनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतके उपदेश

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥
(११। १७। ५४)

हैं—राग और द्वेष। संसार-वृद्धि चार कषायोंके कारण होती है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमेंसे क्रोध और मानका समावेश द्वेषमें और माया तथा लोभका रागमें किया जाता है। इन कषायोंकी कलुषितताने ही आत्माके मूल शुद्ध स्वभावको आवृत कर रक्खा है। जबतक राग-द्वेष एवं कषायोंसे छुटकारा नहीं मिलता, तबतक आत्माका परमात्मस्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। कषायोंके विरोधी क्षमादि गुणोंको ही धर्मकी संज्ञा दी गयी है। इसलिये स्थानाङ्गसूत्रमें धर्म-प्राप्तिके चार उपाय बताये हैं। क्षमा, मृदुता, (नम्रता), (निरभिमानता), ऋजुता (सरलता) और निर्लोभता। योगशास्त्र और प्रशमरति आदि ग्रन्थोंमें वर्णित धर्मोंके दस प्रकारोंमें भी इन चारोंका समावेश किया ही गया है। वैसे तो इन चारों धर्मके उपायोंको अपनानेकी बड़ी आवश्यकता है। पर यदि एक-एक धर्मको भी ठीकसे अपनाया जाय तो क्रमशः चारों धर्मोंका विकास होता चला जायगा। जहाँतक मैंने विचार किया है—इन चारोंमें ऋजुता या सरलता ही धर्मका पहला सोपान विदित होता है। सरल व्यक्तिको स्वभावतः ही क्रोध कम आता है। अभिमान नहीं होता और संतोष रहता है। ऋजुता या सरलता शब्द ही बहुत सुन्दर है। वक्रता, टेढ़ापन ही वास्तवमें अपनेको मलिन करनेका एक बड़ा कारण है। भीतर कुछ और बाहर कुछ दूसरा दिखावा जिस व्यक्तिमें होता है, वास्तवमें धर्मकी आराधनाका वह पात्र नहीं है। वह धर्म नहीं करता, ढोंग करता है। स्वयंको अच्छे बनानेकी भावना उसमें उतनी प्रबल नहीं होती, जितनी दूसरोंको अच्छा बतलाने या दिखलानेकी भावना होती है। कपट-वृत्ति आत्माको निर्मल और विशुद्ध नहीं बनने देती। वह एक ऐसी मलिनता है जिसके दूर हुए बिना आत्मिक निर्मलता प्राप्त हो ही नहीं सकती। प्रशमरतिमें आचार्य उमापतिने कहा है—

> नानार्जवो विशुध्यति धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा।
> धर्मादृते न मोक्षो मोक्षात्परं सुखं नान्यत्॥

अर्थात् ऋजुता या सरलताके बिना मनुष्यकी आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती। अशुद्धात्मा धर्मका आराधन नहीं कर सकती। धर्मके बिना मोक्ष नहीं मिलता और मोक्षके बिना सुख नहीं। अर्थात् मोक्ष या शुद्धताका प्रधान कारण ऋजुता या सरलता ही है।

सरलता आत्माकी स्वाभाविक वृत्ति है। माया या कपट बाह्य असत्-दशा है, उसे प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है।

सत्य और सरलताका सीधा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है त[illegible] कपटका और झूठका घनिष्ठ सम्बन्ध है ही। इसीलिये अठा[illegible] पाप-स्थानकोंमें झूठ और माया दोनोंका समावेश होनेपर [illegible] माया मृषावादको अलगसे फिर स्थान दिया गया है। वास्त[illegible] में सम्यक्त्व भी सत्यपर ही आधारित है। वस्तुका [illegible] स्वरूप है वैसा ही प्रतीतिमें अनुभव होना 'सम्यक् दर्शन' और मोक्ष मार्गका पहला पाया सम्यक् दर्शन ही माना ज[illegible] है। उसके बिना ज्ञान और चरित्र, सम्यग्ज्ञान [illegible] सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। सत्य और सरलता दोनों ए[illegible] सिक्केके दो पहलू हैं। सत्यका अर्थ है जो जिस रूपमें [illegible] उसे उसी रूपमें जानना और सरलताका अर्थ है जै[illegible] भीतर है वैसा ही बाहर होना। वर्तमानमें ऋजुता बहुत [illegible] कम दिखायी देती है और छल-कपटका विस्तार हो रहा है [illegible] आजकल दुर्भाग्यवश साधारणतया यही माना जाने लगा [illegible] कि छल-कपट एवं झूठके बिना संसारका व्यवहार नहीं चलता [illegible] पर वास्तवमें बात तो यह है कि सत्य और सरलताके बि[illegible] संसार नहीं चल सकता। यदि हम एक-दूसरेपर विश्वास [illegible] करें तो सारा व्यवहार ठप्प हो जायगा। यदि सभी ल[illegible] झूठे और कपटी हो जायँ तो संसारका विनाश अव[illegible] म्भावी है। सरलताका अभिप्राय भोलापन या समझसे र[illegible] होना नहीं है, माया-छल-छद्म या कपटसे रहित होना है।

महाभारतमें सरलताको ही धर्म बतलाते हुए कहा है—सरलता (आर्जव-निष्कपटता) ही धर्म है और कपट अधर्म है। सरल मनुष्य ही धर्मात्मा हो सकते हैं।

मनीषि आचार्यने सत्य और सरलताके सम्बन्धमें बतल[illegible] हुए कहा है—सत्यको पाना तो बहुत सरल है। [illegible] एक ही शर्त है कि हमारा हृदय सरल हो। सरल हो जा[illegible] और तुम पाओगे कि सत्य तो तुम स्वयं ही हो। हृद[illegible] सहजता और सरलताको प्राप्त कर लेना ही धर्म है।'

माया-कपट, छल-प्रपञ्चसे आज हमारी आत्म[illegible] कलुषितताकी काई जम गयी है। इसीसे आत्मोत्थान [illegible] होता। सरलता या निष्कपट-वृत्ति आज दुर्लभ होती जा रही [illegible] दिखावा-ढोंग ही अधिक नजर आता है। इसीलिये आ[illegible] कल्याणके इच्छुक सज्जनोंका ध्यान आकर्षित करनेके [illegible] यह निवेदन किया गया है।

धागे उलझते ही गये !

(लेखक—श्रीरामनाथजी सुमन)

[१]

बचपनमें वह बहुत बीमार रहता था; बाल्यकृत (इन्फण्टाइल लीवर) सूखा आदि भयानक रोगोंसे आक्रान्त । माँ उसे गोदमें रखे और थपथपाते रातें बिता देती थी । वह उसे लिये कहाँ-कहाँ नहीं फिरी—देवी-देवता मनाये गये; ग्रह-शान्ति की गयी; संत-महात्माओंके आशीर्वाद प्राप्त किये गये; डाक्टर-वैद्यकी सेवा-अर्चना हुई । मतलब, रात-दिन वर्षोंकी अनवरत देख-रेख और सार-सँभालके बाद वह कुछ पनपने लगा और पनप गया ।

पिताने साधोंसे उसे पाला; उमंगोंपर उसे दुलराया—दिलका प्यार दिया, पढ़ाया-लिखाया, जो साधन उनके बसमें न थे, वे भी जुटाये—इसलिये कि उसका समुचित विकास हो; वह बड़ा होकर नाम करे; समाजके काम आये । माताने उसे निष्ठा दी; पिताने संस्कार दिये, सुविधाएँ दीं । माँने उसे प्यारकी दीक्षा दी; पिताने उसे जीवनके मूल्योंके प्रति दृष्टि दी । सामान्य, शिष्ट गृहस्थ; दोनोंके मनमें भविष्यकी बड़ी उमंगें थीं, बड़ी आशाएँ थीं, बड़े सपने थे ।

उसे ऊँची शिक्षा दी गयी । समय आनेपर अच्छे घरमें शादी हुई । पढ़ी-लिखी बहू आयी । माँने ललककर बहूको कलेजेसे चिपटा लिया । बहिन भाभी पानेकी उमंगों और अपने ही सपनोंमें सिमटी-सिमटी फूली न समायी । छोटे भाई स्नेहका उपहार पानेकी कल्पनाओंमें खो गये । मित्रोंने बधाइयाँ दीं, पार्टियाँ हुईं, उपहार आये, दान-दक्षिणा दी गयी, स्वागत-सत्कारके बाद आगत विदा हो गये । लोगोंने कहा—बड़ी अच्छी शादी हुई है । किसी बातकी कमी नहीं दिखायी पड़ी ।

परंतु कुछ ही महीने बीते थे कि घरमें एक छोटी-सी दरार दिखायी पड़ी; उसे सीमेंटसे जोड़नेका प्रयत्न भी किया गया परंतु प्रयत्नोंके बाद भी वह न जुड़ सकी । दिन-दिन उसका मुँह खुलता गया—वह बढ़ती गयी । बहूकी भवोंपर बल आया; विषका ज्वार उठा; भृकुटियाँ तनीं और फिर दरार बोल उठी । पहिले एक जिह्वासे; फिर शत-शत जिह्वाओंसे । अपनी शक्तिसे अधिक, साधोंसे दिये ससुरालके गहनोंपर बहूका व्यंग छा गया, 'इन हवाई गहनोंके आगे मैकेके ठोस गहने रखे गये । सासके कलेजेमें एक खोंच लगी, परंतु हँसकर वह उस वेदनाको पी गयी । यह भी व्यर्थ गया । एक-न-एक बात निकलने लगी । धागेमेंसे धागा निकलता गया और वे सब परस्पर उलझते गये । यहाँतक कि बहूका मुँह खुल गया । वह शब्दोंको चबाकर बोलने लगी । उमंगोंसे भरी सासका कलेजा बैठ गया !

परंतु अब भी आशा थी । डोर कटी न थी । जिस बच्चेको माँने अपने खूनसे बनाया है और अपने सुख-आरामका एक-एक कण देकर पाला है, वह तो उसका है ? उसकी वेदना, उसके त्याग, उसके आशीर्वादका मूल्य वह तो लगायेगा ? वह तो अपनी आत्मा है ? परायी लड़की न समझे, वह तो समझेगा ?

पिताके कानमें बातें आतीं । वे सहम जाते क्षणभरके लिये; फिर एक झटकेमें, प्रयत्नपूर्वक उन्हें दूर फेंक देते जैसे कम्बलपर पड़ी बूँदें झटकार दी जाती हैं । कभी सिहरकर आँखें मूँद लेते; सुनकर भी न सुनते, देखकर भी न देखते । 'सब ठीक हो जायगा, समयकी बात है ।'

शुरूमें ऐसा लगा भी कि सब ठीक हो जायगा । लड़केने पत्नीको कोई समर्थन नहीं दिया । परंतु धीरे-धीरे वह भी खीझने लगा । दो बातें पत्नीको सुना देता । फिर पत्नीके साथ माँको भी सुनाने लगा । अब वह 'तुमलोग' और 'हमलोगों'के स्वरमें बात करता

था। मतलब यह कि उसके मनकी जड़ें, जो पैतृक गृहके अंदर थीं, अब कटने लगीं। फिर रात-दिनकी चिक-चिकके आगे उसने कंधे डाल दिये। कहता बहुत कुछ; कहता क्या, भुनभुनाता। परंतु पत्नीसे दृढ़तापूर्वक उसने कभी नहीं कहा कि 'मैं माता-पितासे अलग नहीं हो सकता और तुम्हें इन्हींके साथ रहना होगा।' स्वभावतः अपना नया घर बनानेकी बहूकी हौंस बढ़ती गयी और पतिकी इस शिथिलताके कारण उमंगों एवं आशाओंसे भरे घरपर अविश्वास, संदेह और निराशाकी अँधियारी छा गयी—ऐसी अँधियारी जिसका कहीं ओर-छोर नहीं, कहीं आदि-अन्त नहीं!

और आज वही माँका लाड़ला है कि माँको भूल गया है; बिल्कुल भूल गया है। आता है, जाता है परंतु माँसे बोलता नहीं। बहूने, अपनी समझसे मैदान मार लिया है। वह विजय-गर्वसे फूल गयी है। माँ अपने ही लड़केके मुँहसे 'माँ' शब्द सुननेके लिये तरस रही है। छटपटा-छटपटाकर रह जाती है। टूट गयी है; अंदर-बाहर सब ओरसे टूट गयी है। जीती है परंतु मरी हुई है। ओठ हँसना भूल गये हैं; आँखोंका प्रकाश झड़ गया है।

लड़केकी, भाईकी एक जमानेकी दुलारी-प्यारी बहिन सहमकर रह गयी है—जैसे उसकी चञ्चलताके पगोंमें किसीने भारी पत्थर बाँध दिये हों। जो थिरकती थी, वह डगमगाती चलती है। कलकल हँसीके सोते सूख गये हैं। कोई मनुहार नहीं, कोई आग्रह-अपेक्षा नहीं। कली खिलनेके पहिले ही, तुषारपातमें मुर्झा गयी है।

दो भाई थे। जीते हैं, हँसते हैं, खाते-पीते हैं किंतु उनका जीवन सहज स्रोतोंसे कटकर अलग हो गया है। वे होकर भी नहीं हैं। विच्छिन्न हैं, विखण्डित हैं, अपने लिये हैं। बल्कि अपने लिये भी नहीं हैं। दूसरोंसे जुड़ नहीं पाते। परिणीताके रूपमें स्त्रीसे डर गये हैं। जैसे उनके जीवनपर एक प्रेतकी छाया हो, जो उठते-बैठते, चलते-फिरते, बोलते-चालते उन्हें विवश, अस्वाभाविक रख रही हो।

और पिता? केवल अपने काममें सिमिटकर रह गये हैं, कामके अतिरिक्त और कुछ उनके लिये नहीं है। काम ही उनका एकमात्र भोग है। वे हैं और काम हैं, काम और वे हैं। चलना है, चलते जा रहे हैं। मंजिलकी चाह नहीं; पगोंमें कहीं पहुँचनेकी उमंग नहीं। उन्हें कहीं जाना नहीं है, कहीं पहुँचना नहीं है। फिर भी चलना है और चलना है। अपने ही दुःखोंके बोझसे स्त्री कटकर, थककर पीछे रह गयी है। पुत्र न कभी साथ थे, न हैं और कन्या कब साथ दे सकती थी? बस, अकेले चले जा रहे हैं और चले जा रहे हैं। एक भयावनी, लम्बी, एकाकी यात्रा, जहाँ कोई साथी नहीं है, परंतु अपेक्षाएँ सबकी हैं।

बहुत दिनोंसे मैं इस दुःखान्त नाटिकाको देखता आ रहा हूँ। धागे बराबर उलझते ही गये हैं। एक घरके अनेक बनते मैंने देखे हैं, किंतु एक ही घरके खण्डित अनेक टूटे घरोंकी यह मर्मवेदना-भरी पुकार हृदय बेध देती है। एक रुदन है—निरन्तर रुदन जो घुटा-घुटा-सा है और फूटते-फूटते रह जाता है। चीत्कार और उद्गार भी नहीं,—एक आहत, मौन सिसकियोंका खंडहर। वहाँ प्रवेश करते ही एक अजब सन्नाटा छू जाता है, लगता है यहाँ हाड़-मांस आशा-उमंगोंसे भरे आदमी नहीं, प्रेरित प्रेत-छायाएँ चल-फिर रही हैं। यहाँकी हवा बोझिल है, एक-एक साँस भारी है; दम घुटता है।

एक सामान्य, सरल, जवान उमंगोंवाला लड़का एक आत्मविस्मृता नारीके अस्त्रोंका शिकार हो गया। सारा घर उसमें जल गया। एक छोटा हरा-भरा संसार राख हो गया!

(२)

जब-जब इस दुर्घटनाकी याद करता हूँ, रोंगटे ...

हो जाते हैं और मेरे स्मृति-पटपर बौद्ध जातककी एक कथा उभर-उभर आती है । श्रावस्ती नगरीकी बात है । एक सदाचरणशील युवक । मातृभक्त । पिता मर गये तो उसने अपना जीवन माँके लिये समर्पित कर दिया । सुबहसे राततक, उसके उठनेसे सोनेतक, उसका सब काम स्वयं करता । माँ मनमें मगन होती परंतु पुत्रके कष्ट-दुःखपर उसका जी भर-भर आता । वह चाहती थी कि पुत्र ब्याह कर ले; बहू घर आ जाय तो उसकी भी सेवा होगी और पुत्रको भी आराम मिलेगा । एक दिन उसने ब्याहके लिये बड़ा आग्रह किया और बोली—'बहू मेरी सेवा करेगी और तुझे अन्य काम करनेका समय मिल जायगा ।'

परंतु लड़का था समझदार । नहीं चाहता था कि कोई आकर उसकी मातृ-सेवाका यज्ञ खण्डित कर दे। उसने कहा—'मैं तो अपने कल्याणके लिये तुम्हारी सेवा करता हूँ । कोई दूसरा वैसा कैसे कर पायेगा ?' माँने बहुत समझाया, कहा—'यही परम्परा है, तुम ऐसा न करोगे तो संतति-शृङ्खला समाप्त हो जानेसे कुलका लोप हो जायगा ।' परंतु पुत्र दृढ़ रहा । उसने गृहस्थीके जंजालमें पड़नेसे इन्कार किया; बोला—'जबतक तुम जिओगी, तुम्हारी सेवा करूँगा । तुम्हारे देहावसानके बाद परिव्राजक हो जाऊँगा ।'

परंतु प्रत्येक माँके मनमें ललक होती है पुत्रका विवाह करनेकी । जैसे एक दिन वह इस घरमें लायी गयी थी और उसकी सासने उसका स्वागत किया था, सिखाया-पढ़ाया था और फिर समय आनेपर यह घर सौंपकर चली गयी थी, वैसे ही इस घरकी जीवन-शृङ्खला बनाये रखनेवाली एक परिणीता ले आने और सिखा-पढ़ाकर कालान्तरमें उसके हाथ पुत्र तथा गृह छोड़ जानेकी चिरन्तन साध उसके मनमें भी थी । इसलिये माँ रोज कहती; पुत्र रोज इन्कार करता । यहाँतक कि एक दिन पुत्रकी स्वीकृतिके बिना ही अपना कर्तव्य समझ उसने विवाह कर दिया; समान गुणधर्मशीला एक पुत्रवधू ले आयी । पुत्र उसके साथ रहने लगा; जीवन बिताने लगा परंतु माँकी सेवाकी ओरसे जरा भी उदासीन नहीं हुआ । बहूने पतिका रुख देखकर सासकी निष्ठापूर्वक सेवा की और उसकी दुलारी बन गयी । परंतु ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, उसने देखा कि पतिमें उसके प्रति जितनी आसक्ति है, माँके प्रति भक्ति उससे कहीं अधिक है । बस, सामान्य नारीकी ईर्ष्याने कलेजेमें करवट ली । उसने निश्चय किया कि उनका मन माँकी ओरसे फेर देगी । इसके लिये बड़ा मायाजाल फैलाया, तरह-तरहसे पतिके मनपर अपना जादू स्थापित करनेकी चेष्टा की और जब उसे विश्वास हो गया कि उसके प्रति पति अनुरक्त हो चले हैं तब उसने बड़े कौशलसे अपना विष-बाण चलाया और प्रकट कर दिया कि वह अपनी खूसट सासके साथ न रहेगी; या तो वह रहेगी या सास रहेगी; दोनों इस घरमें न रह सकेंगे ।

परंतु पतिके मनका अनुमान लगानेमें उसने भूल की थी, जो सदाशय तरुण गृहिणीके प्रति अपना कर्तव्य पालन करते हुए भी, माँके प्रति पहिले-जैसी ही भक्ति रखता था । उसने सहज भावसे उत्तर दिया—'यदि यही होना है तो तू चली जा; क्योंकि तरुण होनेके कारण तू कहीं भी अपना पालन-पोषण कर सकती है, जब मेरी जरा-जीर्ण माँ वैसा करनेमें असमर्थ है । उसका तो मैं ही अवलम्ब हूँ इसलिये तू अपने मायके जा सकती है ।'

पतिकी दृढ़ताने पत्नीकी आँखें खोल दीं । वह [illegible] गयी । सोचा—'इनकी दृढ़ मातृभक्तिको तोड़नें[illegible] असमर्थ हूँ । यह हर्गिज माँको नहीं छोड़ेंगे और[illegible] मायके लौट जाती हूँ तो सदाके लिये पतिसे वि[illegible] होकर विधवा-सा जीवन बिताना होगा ।' इसलिये पहलेकी तरह सासकी सेवा कर उसकी एवं पति दोनोंकी प्रिया बने रहनेमें ही कल्याण है और सासके

प्रति उसका आचरण पुनः अनुकूल हो गया। घर टूटते-टूटते बच गया।

(३)

दोनों उदाहरणोंपर विचार करते हैं, तो लगता है कि दूसरा पहलेका उत्तर है। पहले घरमें पतिकी शिथिलताके कारण पत्नीके हृदयकी ईर्ष्याका एक बूँद विष दिन-दिन गुणित और घनीभूत होता गया; यहाँतक कि हलाहल हो गया और उस छोटे-से पनपते संसारको उसने सदाके लिये नष्ट कर दिया, जब कि दूसरा घर पतिकी दृढ़ताके कारण बच गया और पत्नीके मनका संचित विष पतिके सघन मातृप्रेमके अमृतमें घुल-मिलकर अमृत हो गया।

मैं यह नहीं कहता कि सदा ही ऐसा होता है और सभी पत्नियाँ पतिकी दृढ़तासे बदल जाती हैं। अपने स्वभाव एवं संस्कार तो होते ही हैं किंतु यह भी सत्य है कि सौमें नब्बे पत्नियाँ, अपनी सहज समझके कारण पतिकी रुख देखकर ही चलती या अपनेको ढालती हैं। इसलिये थोड़ी-सी दृढ़ता एवं विवेकसे बहुत-से घर नष्ट होनेसे बच सकते हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि सब सासें दूधकी धुली होती हैं या सब बहुएँ अपने तन-मनमें साहीके काँटे छिपाये हुए ही आती हैं। दोष एवं गुण सबमें होते हैं, परंतु प्रत्येक सुशीला पत्नी इतना तो समझ ही सकती है कि जो पति उसे मिला है वह उसकी पुश्तैनी या एकमात्र जायदाद नहीं है; उसकी रचना, निर्माण एवं पालन-पोषणमें उसके सास-ससुरने असीम कष्ट सहे हैं; असीम उत्सर्ग किया है; पति उसके हाथमें उसके सास-ससुरका ही दान है और प्रत्येक संततिको विचार करनेपर मानना ही होगा कि माँके त्यागका प्रतिदान कभी पूरा नहीं होता। इसी प्रकार उसे समझना चाहिये कि उसमें पिताकी आत्माका अवतरण है; बहिनके स्नेहने उसका अमृतसे अभिषेक किया है; भाइयोंकी श्रद्धा उसे अभेद्य कवच प्रदान करती है और गृह मानवकी सामाजिकताका, व्यक्तिकी विराटताका प्रथम चरण है, जिसे मिटाकर मानव इकाईकी सुखद यात्रा सम्भव ही नहीं है।

पहले उदाहरणमें जहाँ धागे उलझते ही गये हैं, तहाँ दूसरेमें उलझते धागे सुलझते गये हैं। अब यह आपके विवेकपर निर्भर है कि आप किस उदाहरणके अनुसरणका निश्चय करते हैं।

सर्वत्र सब तुम्हीं हो

प्रकृति, पुरुष, परमात्मा तुम ही, माया, शुद्ध ब्रह्म तुम ही।
जगदीश्वर भगवान् तुम्हीं, हो सर्वान्तर्यामी तुम ही॥
दिव्यलोक-वैकुण्ठ तुम्हीं हो, हो कैवल्य मोक्ष तुम ही।
देव तुम्हीं हो, दानव तुम ही, हो सुरलोक-नरक तुम ही॥
आश्रय तुम्हीं, अनाश्रय तुम ही, दुःख तुम्हीं हो, सुख तुम ही।
वैभव तुम्हीं, गरीबी तुम ही, कीर्ति तुम्हीं, अकीर्ति तुम ही॥
मान तुम्हीं, अपमान तुम्हीं हो, स्तुति तुम्हीं, निन्दा तुम ही।
जन्म तुम्हीं; बीमारी तुम ही, तुम ही जरा, मृत्यु तुम ही॥
किसी रूपमें मिलो, मिलोगे मुझको सदा एक तुम ही।
रक्खो कहीं मुझे, नित भरे रहोगे वहाँ एक तुम ही॥

भावी

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपाल माथुर)

(१)

कथा प्रारम्भ करनेके पूर्व कथावाचकजीने बड़े ही मधुर एवं उच्चस्वरमें यह मङ्गलाचरण नेत्र मूँदकर ध्यान करते हुए गाया—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि ॥

भगवान् मनमोहनके बालस्वरूपका यह मनमोहक मङ्गलाचरण सुनकर श्रोताओंमें स्तब्धता छा गयी । इसके पश्चात् पण्डितजीने 'शबरीके बेरोंका मधुर स्वाद' प्रसंग-पर प्रेम और करुणासे पूरित कथा सुनाना आरम्भ किया, जिसे अनूठी शैलीमें सुनाते-सुनाते स्वयं पण्डितजी-की आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह चली और इसी भाँति श्रोताओंके नेत्रोंसे भी प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी । जैसे-तैसे इस परम कारुणिक प्रसंगको समाप्तकर पण्डित-जीने प्रवचन करना शुरू किया—"जीवन क्षणभंगुर है, पानीका बुदबुदा है, वायुका झोंका है । प्राण-पखेरू उड़ते तनिक भी विलम्ब नहीं होता । 'हंस' निकल जानेपर तन, कफन, मिट्टी-गिट्टी सब एक समान हैं । इसीसे कहा है कि जबतक श्वास आता-जाता रहे, तबतक भगवान्का भजन प्रत्येक श्वासके साथ करते रहो । यही मानव-जीवनका सार है । अनेक पुण्योंके फलसे मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है । इसे व्यर्थके सांसारिक प्रपञ्चोंमें नष्ट करके परलोक मत बिगाड़ो और निरन्तर भक्तिभावके साथ अपनी जिह्वासे 'हरिः शरणम्' की रट लगाते रहो ।"

कथावाचकजीने उपर्युक्त सार-तत्त्वको भलीभाँति समझानेके पश्चात् हारमोनियम बाजेपर एक भक्तिपूर्ण गान मधुर स्वरमें गाकर सुनाया—

'क्षणभंगुर मानुषकी कलिका,
कल प्रात को जाने खिली ना खिली ।
रट ले हरि नाम अरी रसना,
फिर अंत समयमें हिली ना हिली ॥'...

नीरव निशीथके शान्त वातावरणमें यह मधुर गान गूँज गया और श्रोता भी मुग्ध हो गये । कोई ध्यानसे सुनकर आनन्द-मग्न हो रहा था, कोई अपना जीवन व्यर्थ बीत जानेका पश्चात्ताप कर रहा था, तो कोई पण्डित-जीकी अपेक्षा सीने-कलाकारोंकी प्रशंसा करते हुए संसारकी असारताको भूले हुए था । निश्चिन्ततासे बातें इस प्रकार हो रही थीं, मानो जीवन पत्थर, लोहा और फौलादकी नींवपर टिका हुआ है—इसे कैसे कोई आँच आ सकती है ! 'पण्डितजी जीवनके सुख-भोग छुड़ाने और हमें अकर्मण्य बनानेके लिये खाली राम-राम रटने-का निरर्थक उपदेश देना ही जानते हैं—'

पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥
(तुलसी)

विदेशोंको देखिये, उनके आविष्कारोंने, थोड़े विनाशके साधनोंको छोड़कर, ऐश-आराम भोगनेके साधन कितने अधिक बढ़ा दिये हैं ! इनकी गुपचुपसे कथा-श्रवणके आनन्दमें बाधा आती देख कुछ श्रोताओंने इन्हें धीमी मृदुवाणीमें मना किया, तो भी इनकी काना-फूसी चलती ही रही ।

उधर गायन समाप्त करके कथावाचकजीने कीर्तन कराना शुरू किया—

शिवजीके डमरूसे निकला रघुपति राघव राजाराम ।
शबरीके बेरोंसे निकला पतितपावन सीताराम ॥...

पहली कड़ी पुरुषवर्ग और दूसरी कड़ी नारीवर्ग बोलता था । तन्मय होकर सभी श्रोता तालियाँ बजा-

बजाकर आनन्दमग्न हो कीर्तन कर रहे थे। पास ही सड़कपर मोटर, ताँगा, गाड़ी, साइकल एवं पथिकोंका आना-जाना जारी था। किंतु कीर्तनकी धुनमें मस्त होनेसे किसीको स्वप्नमें भी यह भान नहीं था कि अभी-अभी एकाएक कैसी क्या भयंकर दुर्घटना होनेवाली है, जिससे सबके मनसूबे मनहीमें रह जायँगे। इसीसे कहा है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पलमें परलय होयगी, फेर करैगो कब्ब॥

विपत्ति पहले सावधान करके नहीं आती। भवितव्यताको कोई टाल नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीने स्पष्ट चेतावनी दे दी है—

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आपु न आवे ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

ऐसा ही हुआ अनभ्र-वज्रपात उस समय। एक सामानसे भरा बड़ा ट्रक सड़कपर जाते-जाते एकदम श्रोताओंकी ओर मुड़ गया। उसे अपनी ओर आते देख सभी श्रोता भयसे अरे-अरे करते हुए बचावकी चेष्टा करने लगे। इतनेमें ही वह लोगोंको कुचलता हुआ निकल गया। श्रोताओंमें चिल्लाहट, करुणक्रन्दन, कराहट और भारी भगदड़ मच गयी। सभी अँधेरी रात्रिमें ऊबड़-खाबड़ गर्त, नाले, नाली, राह-कुराहमें गिरते-पड़ते फँसते भागे। कई अधिक घायल हो गये थे। इनमें वे श्रोता भी थे, जो अभी-अभी 'सब तज हरि भज' के उपदेशपर ध्यान न देकर कथावाचकजीकी हँसी उड़ा रहे थे और अब 'हाय राम हाय राम' कर रहे थे। खबर पाते ही पुलिसने आकर अपना काम शुरू किया। विपत्तिग्रस्त लोगोंके द्वारा गद्गद कण्ठसे आर्त्त-स्वरमें श्रीभगवान्‌से रक्षा करनेकी प्रार्थना की जा रही थी। करुणा-वरुणालय, अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान् सबका आर्त्तनाद सुनते ही हैं। इनका भी सुना और तत्काल उनकी प्रेरणासे परिजन, पुरजन, स्वजन, पड़ोसी, पथिक, स्वयंसेवक दौड़े आये। घायलोंको अस्पताल भेजा गया। उपचारमें डाक्टर, वैद्य, हकीम, जर्राह तन-मनसे जुट गये। दर्शकोंकी भीड़ लग गयी। वे भी यथायोग्य सेवामें लग गये। कोई कह रहा था—ड्राइवरको भारी दण्ड दो, नशेमें पागल था—संतुलन सँभालता कैसे। कोई ज्ञानीजन होनहारको बलवान् समझकर कह रहे थे—'प्रभुके सभी विधान अच्छेके लिये होते हैं।' कथावाचकजीका यह भजन सबको याद आ रहा था—

क्षणभंगुर मानुषकी कलिका,
कल प्रात को जाने खिली ना खिली।
रट ले हरिनाम अरी रसना,
फिर अंत समयमें हिली ना हिली॥...

इस अघट-घटनासे दुखित हो कथावाचक हरिहररामजीने पीडितोंकी सेवा-सम्हाल करनेमें पूरा योग दिया और कथाकी आयी सारी भेंट इस कार्यमें लगा दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने पासके ग्रामोंमें प्रयत्न करके कथाका आयोजन कराया। उनके आकर्षक व्यक्तित्व, कथा कहनेकी सुन्दर शैली एवं भगवदनुरागपर मुग्ध होकर भक्तजनोंने बड़े प्रेमभावसे कथाएँ करायीं। वहाँसे भी जो भेटस्वरूप धन प्राप्त हुआ, उसको पण्डितजीने घर न ले जाकर दुखी घायलोंकी सेवा-शुश्रूषामें संहर्ष व्यय कर दिया।

(२)

'बेटा मुन्ना! तुम्हारे पिताजी अभीतक भोजनार्थ नहीं आये। मुझे प्रतीक्षा करते-करते साँझ हो गयी। जल्दी उनको बुलाकर लाओ—जहाँ हों, वहाँसे खोजकर।'

डा० गुलजारीलालका निजी अस्पताल बड़े पैमानेपर चलता था। आय खूब थी। वे अपना मुख्य कर्तव्य समझकर बड़ी ईमानदारीके साथ अमीर-गरीब सबका समानभावसे इलाज करते थे। प्रभुने 'हाथमें यश' दे

रक्खा था, जिससे अधिकांश रोगी नीरोग हो जाते थे। आज वे ट्रक-दुर्घटना-ग्रस्त पीड़ितोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें भूखे-प्यासे प्रातःकालसे ही लगे थे। घरपर पत्नी घबरा रही थी। उसने अपने पुत्रको पतिकी खोज करनेको भेजा।

वे आये, बोले—'प्रिये! तुम बहुत घबरा गयीं। मैं क्या अबोध बालक था, जो गुम हो जाता? जानती हो, अनेक श्रोताओंपर कथा सुनते, ट्रक फिर जानेसे कुहराम मचा हुआ है, उनके घावोंकी मरहम-पट्टी कर सेवा करना मेरा पहला कर्त्तव्य है।'

'सेवा? 'पहले पेट-पूजा फिर काम दूजा' यह कहावत आप सदैव कहा करते हैं। मालूम है, आजकी कितनी आय मारी गयी? सब रोगी आपकी प्रतीक्षा करते-करते निराश हो लौट गये।' पत्नीने झल्लाकर कहा।

'देखो प्रिये! सेवाके अवसर प्रभु-कृपासे ही प्राप्त होते हैं। और भी सेवा-परायण चिकित्सक वहाँ पहुँचे हैं।' इस प्रकार पत्नीको बोध देते हुए थोड़ा-सा भोजन जल्दी-जल्दी गलेके नीचे उतारकर गुलजारीलाल तुरंत घायलोंके बीच जा पहुँचे और अपने कार्यमें तत्परतासे जुट गये—जैसे अपने ही परिजनोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हों।

दूसरे दिन भी पत्नी जब झल्लायी तब वे गम्भीरभावसे उसे समझाने लगे—'तुम मुझे कर्त्तव्यसे विमुख करनेपर तुली हो? डाक्टरकी पत्नी होकर तुम्हें कर्त्तव्यका भान नहीं—केवल धनका लोभ है। पीड़ितोंकी कराह सुनोगी तो तुम्हारा भी रोम-रोम सेवाके लिये आतुर हो जायगा। ऐसे कारुणिक दृश्यको सामने देखकर वही डाक्टर अपनी पत्नीके पास मौन साधे घरपर बैठा रहेगा, जिसके हृदयमें दया नहीं, जिसे कर्त्तव्यका ज्ञान नहीं और जो केवल स्वार्थ-साधनमें ही मस्त होगा। सुनो, सेवाके कई प्रकार हैं—तड़पते रोगीका तन-मन-धन लगाकर सहानुभूतिके साथ रोग मिटा देना, निराशको आशान्वित बना देना, निरपराधको बचाना, किसीकी आपसी शत्रुता मिटा देना, अनाथ एवं निराश्रितोंको आश्रय देना; लुटेरों, डाकुओं, चोरों, ठगों, उठायीगीरों, धोखेबाजोंसे किसीकी रक्षा करना, अभावग्रस्तकी आर्थिक सहायता करना, असहाय छात्रको सहायता दिलाना, स्मारकरूपमें विद्यालय, धर्मशाला, गोशाला, औषधालय, आतुरालय, देवालय, कुएँ, बावली, प्याऊ आदि बनवाकर उनके संचालनका उत्तम प्रबन्ध करा देना, अन्न-वस्त्रका गुप्त दान देना—इस प्रकार सेवाके अनेक कार्य हैं। इनके करनेसे मानव-हृदयपर ऐसा उत्तम प्रभाव पड़ता है कि उसमेंसे स्वार्थपरता, छल, कपट, असत्य, अन्याय, अप्रेम, अपवित्रता आदि दुर्गुण निकलकर सद्गुणोंकी वृद्धि और भाव-शुद्धि होती है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'में अभिरुचि बढ़ती है, जिससे मानव लोकप्रिय तो बनता ही है, पर उसका भगवत्प्रेम दृढ़तर बन जाता है। ऐसे 'सर्वभूतहिते रताः' मानवोंका समाज व्यक्ति, समष्टि, देश, जाति, धर्म और स्वयंको उन्नत करनेमें समर्थ होकर समझने लगता है कि ये सब कार्य भगवत्सेवास्वरूप ही हैं।'

डाक्टर गुलजारीलालने आगे कहा—'परंतु प्रिये! हम तो ये सब नहीं कर सकते। हमारी रोजी-रोटी तो रोगियोंकी चिकित्सासे पैसा कमाकर चलती है। किंतु इसी पेशेमें यदि हम थोड़ा-सा उदार बनकर निस्स्वार्थ सेवाभावसे रोगियोंका—दुखियोंका रोग-शोक-दुःख मिटानेमें लग जायँ तो परमात्मा भी हमसे प्रसन्न होंगे और यदि इतना भी हम नहीं कर सके, तो [illegible] कमाईको, और विशेष रूपसे हमारी मानवताको धिक्कार है! फिर तो हमारी संज्ञा 'अन्नकीट' और 'पृथ्वीका भारी भार' ही होनी चाहिये। अब तो यह सब तथ्य तुम समझ गयी हो न?'

श्रीमती जसोमतीके स्त्री-सुलभ-भावुक चित्तपर पतिके समझानेका उत्तम प्रभाव पड़ा। वे भलीभाँति जान गयीं कि पीड़ितोंकी सेवा-टहल करना चिकित्सक ही नहीं, प्रत्येक मानवका प्रमुख धर्म है। उन्होंने पतिके साथ सेवा-कार्यार्थ चलनेकी इच्छा प्रकट की। डा० गुलजारीलाल बोले—'सहर्ष चलो। नारी तो करुणा, प्रेम, दया और कष्टसहिष्णुताकी मूर्ति होती है। राष्ट्रकवि श्रीगुप्तजीने नारीके लिये वाक्य कहकर नारीके मातृत्वमय कोमल भावोंको साकार-सा बना दिया है। मेरा विश्वास है कि मेरी अपेक्षा तुम चौगुनी सेवा कर सकोगी।' इतना कहकर डा० गुलजारीलाल अपनी पत्नीको दुर्घटनाग्रस्त क्षेत्रमें साथ ले गये और वहाँ दोनों पति-पत्नी घायलोंकी सेवामें जुट गये।

× × ×

कुछ समय बीत जानेपर सब व्यक्ति चंगे हो गये। सबने चिकित्सकोंका सच्चे हृदयसे आभार माना और मनमें दृढ़ धारणा बना ली कि 'हमारे इन चिकित्सक महानुभावोंका जब कभी कोई भी कठिन-से-कठिन काम पड़ेगा तो हम तन-मन-धन लगाकर सहर्ष एवं सोत्साह उसे करेंगे। चाहे उस कार्यको सम्पन्न करनेमें हमें कितनी ही परेशानियोंका सामना अथवा रात-दिन अथक परिश्रम करना पड़े; क्योंकि इन्होंने हमें जीवन-दान दिया है।'

उपर्युक्त विचार अति श्रेष्ठ और उच्च श्रेणीकी भावनासे पूरित हैं। वास्तवमें लोकोपकारकी लालसासे लगनके साथ सेवा करनेका ऐसा ही सर्वोत्तम और अमिट प्रभाव पीड़ित मानवोंके अन्तःकरणपर होता है। प्रत्युपकारके ये उच्चतम भाव मनमें स्वतः उपजते हैं। इनको उपजानेमें किसी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती। इन भावोंको वही जानता है, जो किसीके उपकारसे उपकृत हो चुका होता है। दूसरा मानव इन छिपे सद्भावोंको नहीं जान पाता।

जीवन-त्रिवेणी

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

नानात्वमें एकत्वका विशुद्ध बोध ज्ञान है। नानात्वमें एकत्वकी सहज अनुभूति प्रेम है। इसी बोध एवं अनुभूतिकी भित्तिपर स्थित सतत सर्वभूतहित-रतता कर्म है।

जीवनमें ज्ञान, प्रेम तथा कर्मकी त्रिधाराओंको एक-रस, एक-रूप तथा एक-तार होकर बहने दो। जीवनके एक-एक क्षणको······क्षणके एक-एक कणको इनका संगम-स्थल बनने दो। फिर इस त्रिवेणीमें लोक-परलोककी सुध बिसार, [illegible]वित्त होकर नित्य स्नान करो। स्नान क्या, समा जाओ सदा-सदाके लिये इसमें और फिर देखो चमत्कार। सहज परम-[illegible] प्रतिष्ठित होओगे। परमधाममें प्रवेशके लिये अयाचित ही पासपोर्ट प्राप्त होगा। परम प्रियतम स्वयं गले आ लगेंगे। [illegible]न्त जीवन-कृतकृत्यता चरण-चेरी बनी तुम्हारे पीछे-पीछे फिरेगी।

बोलो और क्या चाहिये?

सृष्टि-संवत्सर—वैदिक ऋषियोंके अनुसार तथा आधुनिक विज्ञानके अनुसार

(लेखक—श्रीघनश्यामसिंहजी गुप्त)

महर्षि दयानन्दने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिकाके वेदोत्पत्ति-विषयके खण्डमें सृष्टिकी उत्पत्तिका समय १९६०८५२९७६ वर्ष अंकित किया है। उसके लिये उन्होंने वैदिक प्रमाण भी उपस्थित किये हैं और प्रत्येक आर्य (हिंदू) गृहस्थ जो संकल्प करता है, उस संकल्पके मन्त्रका भी ऋषिने उद्धरण करके सिद्ध किया है कि यह हमारी सर्वविदित बात है। यहाँतक कि न केवल वर्षकी ही गणना की जाती है, किंतु मास, पक्ष, वार और पल-विपलकी भी गणना होती है। संकल्पका मन्त्र निम्न प्रकार है—

श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्ते अत्रेदं कृत्यं क्रियते।

इसमें गणितके अनुसार जितने पारिभाषिक शब्द हैं, उनकी कालावधि निश्चित है। यथा—कुल १४ मन्वन्तर हैं, उनमें ६ बीत चुके हैं और सातवाँ चल रहा है। इस सातवें मन्वन्तरका नाम वैवस्वत है। चार युग हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—जो सभी जानते हैं। प्रत्येक युगकी अलग-अलग काल-गणना है। चार युगका एक चतुर्युगी होता है। २७ चतुर्युगी बीतनेके पश्चात् यह २८ वीं चल रही है। इस प्रकार गणना करनेपर इस वर्ष सृष्टि-संवत्सर १९६०८५२०२२ हुआ। लेख लंबा न हो, इसलिये मन्वन्तर आदिकी कालावधियोंकी गणना नहीं की गयी है। जो इसे भी देखना चाहते हों, वे महर्षिकृत ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिकाके उचित पृष्ठोंको देख सकते हैं।

अब यह देखना है कि वर्तमान विज्ञानविशारदोंकी नवीनतम खोजसे सृष्टि-संवत्सरकी गणना कितनी होती है और उनकी खोजके साधन क्या-क्या हैं।

बाइबिल आदि धर्मग्रन्थोंके अनुसार तो सृष्टि-संवत्सरकी बात छोड़नी ही पड़ेगी; क्योंकि इनकी वैज्ञानिक खोजके साथ तनिक भी तुलना नहीं की जा सकती।

जबतक नवीनतम साधन रेडियो एक्टीविटीका आविष्कार नहीं हुआ था, तबतक वैज्ञानिकोंकी बातें भी मनगढ़न्त कल्पनामात्र थीं। १८वीं सदीमें फ्रांसके विज्ञानवेत्ता श्रीबफ्फनने पृथ्वीके तापमानके आधारपर उसकी आयु ७० हजार वर्ष मानी थी।

किंतु अब इस विषयमें विज्ञान प्रायः पूर्णतातक पहुँच गया प्रतीत होता है। सृष्टि-संवत्सरकी खोजमें दो मुख्य बातें हैं, जो अचूक हैं। यूरेनियम, थोरियम, पोटेशियम आदि रेडियो एक्टिव धातुओंका ह्रास (डिके) तथा सीसा (लेड) में परिवर्तित होना। इस परिवर्तनकी गति सभी अवस्थाओंमें एकरस है, चाहे ताप, परिणाम या दबाव कुछ भी हो।

पृथ्वीके अन्तस्तापकी गणना तथा चट्टानोंकी बनावट एवं समुद्री जलमें लवण-घोल आदिका भी सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन किया गया है।

इन सभी बातोंके अध्ययनसे अब विज्ञानवेत्ता इस परिणामपर पहुँचे हैं कि सृष्टि-संवत्सरका काल लगभग दो अरब वर्ष है। यह काल वैदिक ऋषियोंद्वारा घोषित कालके बिल्कुल अनुरूप है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस अनुसंधानके लिये वैज्ञानिकोंने जटिल उपकरणोंके प्रयोगसे पचासों वर्ष लगाकर भी लगभग दो अरब वर्ष निश्चित किया, वहाँ हमारे ऋषियोंने 'लगभग' शब्दका प्रयोग न करके वास्तविक कालकी गणना कैसे की होगी ?

इस सम्बन्धमें भगवद्गीताके दो श्लोक मुझे याद आते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

योगस्थ ऋषियोंको विश्वका सम्पूर्ण ज्ञान साक्षात्कार हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'—ऋषि केवल मन्त्रज्ञाता नहीं, साक्षात् देखनेवाले होते हैं। ज्ञानचक्षुसे केवल जाननेवाले नहीं होते। इसमें कुछ भूल भी हो सकती है। परंतु योग-चक्षुसे साक्षात् दर्शन होता है, जिसमें भूल होनेकी कुछ भी गुंजाइश नहीं होती।

कबीरके काव्यमें भ्रष्टाचार-उन्मूलनकी शिक्षा

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्०)

आजकल भ्रष्टाचार मुख्य चर्चाका विषय बना हुआ है। देशके चोटीके नेता इसी उधेड़-बुनमें लगे हुए हैं कि इसे कैसे समाप्त किया जाय? इस विनाशकारी तत्त्वके खतरेसे देशके विचारक तथा समाज-सुधारक सर्वदासे सजग रहे हैं। यों भ्रष्टाचारकी ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है। समाज-विरोधी प्रत्येक कार्य-को यह संज्ञा दी जा सकती है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो अनुचितरूपसे धन कमानेकी लालसाको भ्रष्टाचार कह सकते हैं। धन-लोलुपता, जो भ्रष्टाचारका पर्याय ही है। सभी धर्मोंमें धन-लोलुपताको भ्रष्ट-कार्य बताया गया है। परंतु खेद है कि आजकी शिक्षामें जीवनको निखारनेवाले धार्मिक तत्त्वोंका समावेश नहीं है। यही एक प्रधान कारण है कि आज हम अनुचित-रूपसे धन कमाकर दिन-प्रति-दिन भ्रष्ट होते जा रहे हैं।

यदि हम अनैतिकरूपसे धन-संचय करना छोड़ दें तो समाज तथा सरकारके भयंकर सिरदर्दको दूर कर सकते हैं। अपने परिश्रमसे जो मिल जाय, उसीसे अपना निर्वाह कर लेना भ्रष्टाचार-रोगकी रामबाण ओषधि है। महात्मा कबीरने यही समझकर धन-लोलुपताको [illegible]समाजके लिये घातक बताया। उन्होंने अपनी वाणि[illegible]योंमें सरल तथा संयत जीवनपर अधिक-से-अधिक [illegible]र दिया—

कहा चुनावै मेड़ियाँ, लंबी भीति उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पौने चारि॥

कबीर साहब कहते हैं कि 'हे मानव! तू विशाल भव्य महल बनानेमें क्यों लगा है? अन्त समयमें तेरे लिये तो साढ़े तीन हाथका घर (कब्र) पर्याप्त है। अधिक लंबा है, तो पौने चार हाथ स्थान तेरे लिये बहुत है।' चोरबाजारी तथा घूँसखोर जो बड़े-बड़े महल बना रहे हैं, उनको स्पष्ट चुनौती है।

सहज मिले सो दूध सम, माँगा मिले सो पानि।
कह कबीर वह रक्त सम, जामें खैंचातानि॥

कबीर साहेब इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि जीवन-यापनके लिये धनकी आवश्यकता होती है, परंतु वही धन पवित्र है जो सहजरूपसे परिश्रमद्वारा अर्जित किया गया हो। माँगनेसे मिलनेवाला पैसा पानी-के समान है। परंतु जो धन घृणित साधनोंसे दूसरोंका शोषण करके प्राप्त किया जाता है, वह रक्तके समान है। सम्पत्ति जीवन-यापनका साधनमात्र है, साध्य नहीं।

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुँब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

धन इतना ही पर्याप्त है, जिससे कुटुम्बका भरण-पोषण हो सके तथा आनेवाले अतिथि भूखे नहीं लौटें। इससे अधिक धन भ्रष्ट जीवनमें ही सहायक होता है।

रूखा सूखा खाइ के, ठंडा पानी पीव।
देख बिरानी चोपड़ी, मत ललचावै जीव॥

कबीर साहेब कहते हैं कि अपने परिश्रमसे जितना मिले, उसीमें संतुष्ट होना चाहिये। दूसरोंके विलासी जीवनको देखकर मनको नहीं ललचाना चाहिये।

ऐसी गति संसारकी, ज्यों गाडरकी ठाट।
एक पड़ा जेहि गाड़में, सबै जाहि ते बाट॥

पास-पड़ोसके धन-वैभवको देखकर हमलोग भी अनुचित ढंगसे धन कमानेका प्रयास करते हैं। हमें भ्रष्टाचारियोंका अन्धानुकरण नहीं करना है। अपने विवेक-संसारके सही मूल्योंको पहिचानना है।

कबीर साईं मुझको, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, रूखी छीन न लेय॥

जीवननिर्वाहके लिये जो मिल जाय, उसीमें संतोष करनेसे मनकी पवित्रता बनी रहती है। अधिक प्रलोभन करनेसे कभी-कभी मूल आवश्यकताओंसे भी वञ्चित होना पड़ता है। सट्टा लगानेवाले इसके भुक्त-भोगी हैं।

आधी तो रूखी भली, पूरी तो संताप।
जो चाहेगा चोपड़ी तो, बहुत करेगा पाप॥

जीवन-यापनके लिये जो अपने परिश्रमसे मिले, वह श्रेष्ठ है। इससे अधिक प्राप्त करनेमें मानसिक दुःखोंको आमन्त्रित करना है। यदि हम बहुत ही अधिक प्राप्त करनेका प्रयास करेंगे तो हमें अनेक भ्रष्ट कार्योंका सहारा लेना पड़ेगा। बिना अनाचारके बहुत अधिक धन एकत्रित करना सम्भव नहीं है।

चलो चलो सब कोइ कहै, बिरला पहुँचे कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥

सभी लोग आत्मोन्नतिकी बात करते हैं। परंतु कुछ ही व्यक्ति आत्मोन्नति कर सकते हैं। आत्मोन्नतिके कार्यमें दो बड़ी बाधाएँ हैं—एक स्वर्णके प्रति लालसा, दूसरी अत्यधिक काम-वासना।

जूआ चोरी मुखबरी, ब्याज घूस पर-नार।
जो चाहे दीदारको तो एती बस्तु बिसार॥

कबीर साहेब स्पष्ट रूपसे घोषित करते हैं कि 'ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये हमें जुआ, चोरी, परनिन्दा, ब्याज, रिश्वत तथा परस्त्रीको तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी।' अनुचितरूपसे धन कमानेपर स्पष्ट प्रहार किया गया है।

तू मत जानै बावरे, मेरा है सब कोय।
पिंड प्रानसे बँधि रहा, सो अपना नहिं होय॥

दुनियाभरकी दौलत बटोरकर रखनेवालोंको स्पष्ट चेतावनी देते हुए कबीर कहते हैं—संसारका कुछ भी अपना नहीं है। हे मूर्ख मानव! शरीरमें ही प्राण निवास करता है। वह भी शरीरको छोड़कर कहीं-का-कहीं चला जाता है। तब व्यर्थमें ही लालची क्यों बनता है?

गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी से नेह।
कह कबीर ता साधुकी, हम चरननकी खेह॥

कबीर साहब कहते हैं कि 'जो साधु या सज्जन धन-संग्रह नहीं करता और व्यभिचारसे कोसों दूर रहता है, हम उसके चरणोंकी धूल हैं।'

माखी गुड़में गड़ि रही, पंख रह्यो लिपटाय।
हाथ मलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

लालच ही भ्रष्टाचारका पर्यायवाची शब्द है। यह बहुत ही बुरी वस्तु है। मक्खी भी हमें यही शिक्षा दे रही है कि लालच करना बहुत बुरा है।

इस तरहकी अनेकों साखियाँ कबीर साहेबने समाजके आचरणको शुद्ध करनेके लिये लिखीं। हमें यह निर्विवादरूपसे मानना पड़ेगा कि धनके प्रति अत्यधिक लालसा ही भ्रष्टाचार है। हमारे धर्मशास्त्रोंमें लोभको पापका पिता बताया गया है। अतः यदि भ्रष्टाचारको मिटाना है तो हमें शिक्षा तथा धर्मद्वारा धन-लोलुपताको समाजके मानससे निकालना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई कारगर उपाय नहीं हो सकता।

भ्रष्टाचार मिटानेके मानवीय उपायोंपर हमारे संत-महात्माओंने अपनी लेखनीसे अत्यधिक प्रकाश डाला है। यदि इन उपायोंको स्वीकार नहीं किया गया, इसका दूसरा विकल्प आधुनिक साम्यवाद दिन-प्रतिदिन फैल रहा है। भ्रष्टाचारका मूल कारण धन-लोलुपता है यदि हम इससे दूर नहीं रहे तो साम्यवादी शासनमें हमें पशु बननेके लिये तैयार रहना चाहिये।

सुरेशके पुनर्जन्मका वृत्तान्त

(लेखक—श्रीप्रकाशजी गोस्वामी)

अपनी मृत्युके एक दिन पूर्व बेमुला (लंका) के निवासी सुरेश मैतृमूर्तिने घोषणा कर दी थी कि मैं कल रातको मर जाऊँगा और उसके दूसरे दिन दशा सुधरनेके बावजूद भी रातके समय उसका देहावसान हो गया । कहा जाता है कि रुग्णावस्थामें ही सुरेशको यह भान हो गया था कि उसकी मृत्यु यदि उसी बीमारी-से हो गयी तो उसका पुनर्जन्म उत्तरी भारतमें कहींपर होगा । उसकी मृत्युके दो वर्ष बाद सुरेशके गुरुभाई श्रीआनन्द नेत्राय मद्रास आये और वहाँके एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषीसे सुरेशके पुनर्जन्मके विषयमें पूछ-ताछ की । ज्योतिषीने बताया कि सुरेशका पुनर्जन्म बिहारमें हो गया है । इन ज्योतिषी महोदयने यह भी बताया कि इस जन्ममें सुरेशके पिताका नाम रमेशसिंह है तथा माताका नाम सावित्री है और यह भी बताया कि सुरेश निश्चय ही उन्हें मिल जायगा ।

इतनी सूचना प्राप्त करनेके बाद श्रीआनन्द नेत्रायने बिहारमें जन्मे एक ऐसे बालककी खोजबीन करनी आरम्भ कर दी, जिसका ब्यौरा उपर्युक्त वर्णनसे मेल खाता हो । लेकिन बिहार-जैसे प्रान्तमें यह पता लगा लेना आसान काम नहीं था । इसलिये उन्होंने बुद्धगयाके एक भिक्षुको इस सम्बन्धमें पत्र लिखा । भिक्षुने भी बालकका पता लगानेकी पूरी कोशिश की, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली ।

सन् १९५८ में आनन्द नेत्राय मनीलामें एक धार्मिक परिषद्की बैठकमें भाग लेकर बर्मासे कलकत्ता होते हुए बुद्धगया आये । वहाँपर वे अपने एक मित्र भिक्षु सोमानंदसे मिले और उसके समक्ष उन्होंने सारी घटनाका जिक्र किया । वहींपर उन्हें एक पथ-प्रदर्शक-द्वारा यह राय भी दी गयी कि पुलिस-दफ्तरके रिकार्डसे शायद उन्हें बिहारमें कहीं जन्मे सुरेश नामक बालकके बारेमें पता लग सकता है । तदनन्तर पुलिस-रिकार्डमें उसकी छानबीन शुरू हुई ।

वहाँ यह देखकर उनको एक आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई कि ज्योतिषीके बताये अनुसार ही पुलिस-दफ्तरके जन्म-रजिस्टरमें सुरेश वल्द रमेशसिंहका नामाङ्कन तीन वर्ष पूर्व जन्मे एक बालकके रूपमें हुआ था । पुलिसवालोंने उनको दया नामक जगहमें इस सम्बन्धमें विस्तृत जानकारी होनेके बारेमें बताया । वहाँ जानेपर मालूम हुआ कि यह परिवार बुद्धगयासे १० मीलकी दूरीपर जतिया नामक गाँवमें निवास करता है, इस सूचनाके तुरंत बाद एक ब्राह्मणके लड़केको जतियामें यह जानकारी प्राप्त करनेके लिये भेजा गया । उस लड़केने यह सूचना भेजी कि उपर्युक्त परिवारके सम्बन्ध-में चाही गयी सारी जानकारी वहाँपर उपलब्ध है ।

इसके बाद आनन्द नेत्राय सोमानंद और एक गाइडको लेकर जतिया आये । जतिया गाँवमें प्रवेश करनेसे पूर्व एक किसानने उन्हें बता दिया था कि वहाँके निवासी किसी अजनबीको गाँवमें नहीं आने देते । इसके बावजूद भी जब वे गाँवमें पहुँचे तो उन्होंने देखा कि १०-१५ व्यक्ति लाठियाँ लेकर घटनास्थलपर पहुँच गये हैं । वे लोग यह कह रहे थे कि यदि वे ब्राह्मण या क्षत्रिय हैं, तभी उन्हें गाँवमें आने दिया जायगा । बालकके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेका अपना उद्देश्य जब आनन्द नेत्रायने उन्हें बताया तो वे लोग और भी नाराज हुए । उन्होंने समझा कि यह साधु शायद बच्चेको भगा ले जानेके लिये ही वहाँ आया है । इसलिये जब आनन्द नेत्रायने उनके समक्ष भविष्य-वाणीकी बात कही तो उन्होंने उनसे भविष्यवाणीकी

किताब भी माँगी । शुरू-शुरूमें गाँववालोंको किसी प्रकार भी संतुष्ट नहीं किया जा सका। इसके बाद यह बतानेपर कि वे लंकामें एक बहुत बड़े प्रोफेसर हैं और बहुत दूरसे केवल इसी बातका पता लगानेके लिये वहाँ आये हैं तो वे लोग कुछ संतुष्ट हुए। लेकिन इसके बावजूद भी आनन्द नेत्राय बालक सुरेशसे नहीं मिल पाये और उन्हें वैसे ही वहाँसे लौट आना पड़ा।

दूसरे दिन बालकके पिता खुद बुद्धगया आये और उन्होंने आनन्द नेत्रायसे अपने व्यवहारके लिये क्षमायाचना की। उन्होंने उस समय यह भी कहा कि यदि वे चाहें तो लौटकर बालक सुरेशसे निस्संकोच रूपसे मिल सकते हैं। किंतु इस बार अधिक समय न होनेसे आनन्द नेत्राय यह कहकर लंका लौट गये कि बालकको उसके पूर्वजन्मकी माताजीसे मिलाना उचित रहेगा।

अगली बार १९६० में जब आनन्द नेत्राय फिर बुद्धगया आये तो रमेशसिंहने ही आकर उन्हें यह सूचना दी कि बालक सुरेश लंकामें अपनी माँके विषयमें बताने लगा है तथा यह भी बताता है वहाँ उसके एक गुरुभाई भी हैं जो चश्मा पहनते हैं। सुरेश उनसे कई बार लंका ले जाये जानेके लिये भी आग्रह कर चुका है। इस सूचनापर आनन्द नेत्राय रमेशसिंहके साथ जतिया आये और वहाँ उन्होंने पहली बार सुरेशसे भेंट की। सुरेशने जैसे ही उन्हें देखा, कहा जाता है कि उसकी आँखोंमें आँसू आ गये। लेकिन आनन्द नेत्राय बहुत देरतक कठोर ही बने रहे और उन्होंने सुरेशके साथ एक पराये बच्चेकी ही तरह व्यवहार किया। किंतु अधिक समयतक वे स्वयं भी अपने आपको रोक नहीं पाये और उन्होंने अत्यन्त आत्मीय भावसे सुरेशको अपने पास बुला लिया। सुरेश आकर तत्काल ही उनकी गोदीमें बैठ गया। तब सुरेशको उन्होंने अपनी एक घड़ी दिखायी। उसे देखकर खुशीसे उछलते हुए सुरेशने कहा कि यह तो उसीकी घड़ी है। वास्तवमें यह घड़ी उसीकी थी। उसके बाद वहाँपर आनन्द नेत्रायके साथ बालक सुरेशका फोटो भी लिया गया। इससे पहले सुरेशको देखकर आनन्द नेत्रायने यह भी बताया था कि उसके चेहरेकी बनावट काफी मात्रामें पूर्वजन्मके उसके भाईसे मिलती है।

बालक सुरेशके वृत्तान्तके सम्बन्धमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें

अपनी मृत्युसे पहले सुरेश मैतृमूर्तिको इस बातकी पूर्व जानकारी हो जाना कि उसका पुनर्जन्म उत्तर भारतके किसी प्रान्तमें होगा और इस घटनाका बादमें सही निकल आना निश्चय ही मनोज्ञानसे सम्बन्धित किसी अभूतपूर्व अनुभवके होनेको सिद्ध करता है।

मद्रासके एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषीका सुरेशके पुनर्जन्मके सम्बन्धमें ५००० वर्ष पूर्व लिखी एक पुस्तकके हवालेसे यह बताना कि उत्तर भारतमें बिहार प्रान्तमें उसका फिर जन्म हुआ है और उसके माता-पिताका नाम अमुक-अमुक है और उन तमाम बातोंका अक्षरशः सत्य निकल आना भारतीय विज्ञानकी इस मामलेमें आश्चर्यजनक जानकारीको विश्वके सम्मुख बड़े ही शक्तिशाली ढंगसे प्रस्तुत करता है।

इन सब बातोंके आधारपर ही आनन्द नेत्रायका खोजके लिये निकल पड़ना और अन्तमें इनसे सम्बन्धित सत्यका साक्षात्कार कर लेना बहुत ही रोमाञ्चक तथा विशिष्ट घटना ही कही जायगी। इसके अतिरिक्त भी इस घटनाका जो एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है वह यह कि सुरेशके जीवनमें भविष्यमें होनेवाली घटनाओंकी जानकारी भी ककयारनाडी नामक पुस्तकको देखकर जिस प्रकार दी गयीं है, आगे आनेवाले समयमें वे अपना परीक्षण स्वयं होंगी। हमें यही देखना

हैं कि क्या दस सालकी अवस्था प्राप्त कर लेनेके साथ ही सुरेश बौद्धधर्ममें दीक्षित हो जायगा। आदि-आदि।

परामनोविज्ञान-विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक रीतिसे पूर्वजन्मकी घटनाओंकी खोज और अध्ययन कर रहा है। इन घटनाओंकी वैज्ञानिक जाँच हो सके, उसके लिये यह आवश्यक है कि पाठकोंद्वारा ऐसी घटनाओंकी अधिका-धिक जानकारी विभागको भेजी जाय। इस सम्बन्धमें पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर किया जा सकता है—

डा० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी
संचालक, परामनोविज्ञान-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर, राजस्थान

रामवाद भारतीय संस्कृतिकी अद्भुत अनुभूति

(लेखक—श्रीजगतनारायणजी निगम)

जीवनके एक उस विशेष आदर्शको हम रामवाद-की संज्ञा दे सकते हैं जिसमें श्रीरामका तत्त्वपूर्ण मनुष्यत्व मानवके इहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदयके हेतु एक दिशाकी ओर इङ्गित करता है। हम जितने भी ऊँचे आदर्श मनुष्यकी कल्पना कर सकते हैं, श्री-रामके व्यक्तित्वमें उसे यथार्थ पाते हैं। यह आदर्श अपनेमें सर्वथा सम्पूर्ण है; क्योंकि इसका स्रोत-रूप राम-चरित्र अत्यन्त सरल, नीति-बोधक और प्रत्येक क्षेत्रमें मर्यादासे युक्त है।

श्रीरामके जीवन-चरित्रका यह आदर्श अनेक धाराओंमें प्रवाहित होता-सा लगता है। वे अवतार माने गये हैं, किंतु सदैव जनताके हृदयपर उनके मनुष्यत्वने अधिक गहरा प्रभाव छोड़ा है। राम जो कुछ भी हों, सर्वप्रथम वे एक आदर्श मानव हैं, जिनमें मानवताके समीप वाञ्छनीय तत्त्व स्पष्टरूपसे विद्यमान हैं। वे एक योग्य और कर्तव्यपरायण पुत्र हैं जो कठिन-से-कठिन क्षणोंमें भी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेके लिये तत्पर हैं। वाल्मीकि-रामायणमें श्रीरामने कहा है कि 'आज्ञाके बिना पिताका कार्य-सम्पादन करनेवाला पुत्र उत्तम है और आज्ञा पानेपर जो पिताका कार्य करता है वह मध्यम पुत्र है तथा जो आज्ञा पानेपर भी उसका पालन नहीं करता वह तो मलस्वरूप है।' ऐसा कहकर उसे कार्यान्वित कर देनेमें श्रीरामके गम्भीर अन्तःकरणका सुन्दर परिचय मिलता है।

जीवनके भौतिकवादी पहलूको सर्वथा स्वीकार करते हुए भी श्रीराम किसी भी प्रकारके मोह अथवा महत्त्वाकाङ्क्षासे मुक्त थे। उनके चरित्रपर मनन करने से जीवनके प्रति घृणा कदापि नहीं उत्पन्न होती, बल्कि एक दिव्य-प्रेमकी भावना उदय होती है। श्री-रामकी गाथा स्वार्थपरतासे दूर है। राजतिलकके अवसरपर अकेले राज्य स्वीकार करनेमें उन्हें बड़ा अनौचित्य प्रतीत होता है। पिताकी आज्ञासे वे राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार तो कर लेते हैं, किंतु उनके हृदयमें भावना यही है कि मैं एक प्रथामात्र पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका है। इस अवसरपर भरत और शत्रुघ्नके अनुपस्थित होनेपर लक्ष्मणसे वे कहते हैं—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

'भाई सौमित्रे! तुम (लोग) वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

श्रीरामके दाम्पत्य-जीवनके उदाहरणसे इस तथ्यकी पुष्टि हो जाती है कि संयम और परोपकारकी भावनासे युक्त गृहस्थ-आश्रम ही सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ है। उन्होंने गृहस्थ जीवनकी स्थापना धर्मके ऊपर की और व्यक्तिगत भोगकामनादिसे मुक्त होकर इसे ऐसा बना दिया कि विवेक, आत्मत्याग, शान्ति, प्रसाद एवं कर्तव्यपरायणताके गुण स्पष्ट परिलक्षित हो गये।

श्रीरामकी प्रतिभा उनके राजनीतिक जीवनमें भी पूर्णरूपसे उभरी है। यही नहीं, उसमें समाजवादी विचारधाराके समुचित तत्त्व भी पर्याप्त अंशमें मौजूद हैं। प्रत्येक प्राणीकी बिना भेदभावके रक्षा उनके राजभावका एक विशेष गुण है। वाल्मीकिजी लिखते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

प्रजाराधन राजाका मुख्य कर्तव्य है। इस मार्गमें आनेवाली सभी बाधाओंको हटाना, भले ही वे निकटतम सम्बन्धियोंके कारण हों, श्रीरामने अपना लक्ष्य बनाया था और सीता-परित्याग तो उन्होंने केवल सिद्धान्तों-पर अडिग रहनेके लिये ही किया। 'उत्तर रामचरित'में भवभूतिने उनसे कहलवाया है—

स्नेहं दयां च प्राणं च अपि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

सत्य-संधता और शरणागत-वत्सलताके साथ-साथ राजनीतिक दूरदर्शिताके प्रसङ्गोंमें भी हम उन्हें दक्ष पाते हैं। सभी प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखनेवाले श्रीराम अत्याचारियों एवं राक्षस-प्रवृत्तिके मनुष्योंको दण्ड देनेमें कभी नहीं चूके। श्रीरामके बालि-वध आदि अनेक कृत्योंकी यदि हम वर्तमान भारत एवं विश्वकी परिस्थितियोंके संदर्भमें विवेचना करें तो उनकी आवश्यकता और उपयोगिता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। सर्वत्र ईश्वरके अंशको देखनेवाला भारतीय सदासे ही शान्तिका इच्छुक है। किंतु वह ऐसी शान्ति नहीं चाहता, जिससे युगों-युगोंसे प्रतिष्ठित उसकी मान-मर्यादा-को कोई धक्का पहुँचे। श्रीरामके पुनीत आदर्शको सामने रखकर हम शान्ति-प्रतिष्ठापन एवं जनकल्याणके लिये उचित बल-प्रयोग भी कर सकते हैं।

रामवाद हमें जीवनसे प्रेम करना सिखाता है, यह हमारे मानस-पटलपर एक त्यागकी भावना भी जाग्रत् करता है। जीवनके प्रारम्भसे अन्ततकके सभी अङ्गोंका उचित मार्गनिर्देशन भी हमें इस सिद्धान्तके अन्तर्गत मिलता है। रामवाद मानवके सर्वतोमुखी विकासका एकमात्र साधन है। यही भारत तथा विश्वकी असंख्य उलझनोंके अन्तके लिये एक सफल सिद्धान्त है।

परम आदर्श राम

मात-पिता-गुरु-भक्ति, एकपत्नीव्रत पावन।
भ्रातृप्रेम, शरणागतवत्सलता मनभावन॥
परम मधुर सौन्दर्य काम-शतकोटि-लजावन।
त्याग, शान्ति, वैराग्य, ज्ञान मुनि-चित्त लुभावन॥
शौर्य-नीति-बल-तेज शुचि उपजावत मन हर्ष है।
दुष्टदलन, सेवक-सुहृद राम परम आदर्श हैं॥

संततिनिरोध

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

'मैं संततिनिरोधका विरोधी हूँ इसलिये कि इससे कुमारियों और विधवाओंमें व्यभिचार बढ़ेगा।'

'व्यभिचारकी ओर जानेमें जो अनेक भय हैं, उनमेंसे एककी कमी हो जायगी; परंतु जो सदाचार एवं संयमकी ओर भयके कारण नहीं, उसे कल्याणकारी समझकर अग्रसर होते हैं, उन्हें संततिनिरोधसे क्या भय है ?'

'मैं संततिनिरोधका विरोधी हूँ इसलिये कि इसका प्रचार अधिकांशतः शिक्षितों और समाजके उच्च वर्गोंतक ही सीमित है। संततिनिरोधसे भारतमें उच्चवर्ग-का अनुपात और घट जायगा और मैं संततिनिरोधका विरोधी हूँ इसलिये कि यह केवल हिंदुओंतक ही सीमित है। मुसल्मान इसे स्वीकार नहीं करते, जिसका फल कुछ दिनोंमें जाकर यह होगा कि आज जो जनमत-संग्रहकी माँग केवल काश्मीरतक सीमित है, कुछ दशकों पश्चात् कच्छ, केरल एवं असमसे भी उठेगी।'

'यह संततिनिरोधका व्यावहारिक पहलू है सैद्धान्तिक नहीं। यदि हम अपना संततिनिरोध-अभियान इस प्रकारसे चलायें कि उसमें अशिक्षित, निम्नवर्ग एवं मुसल्मान भी आ जायँ तो फिर आप हमारा विरोध नहीं करेंगे ?'

'मैं संततिनिरोधका विरोधी हूँ इसलिये कि यह प्रकृतिविरुद्ध है। यदि संततिनिरोधमें ब्रह्मचर्य-वाले आश्रय लिया जाय तो मैं इसका प्रबल समर्थक हूँ, अन्यथा घोर विरोधी। प्रकृतिकी कोई भी चेष्टा निरुद्देश्य नहीं है। उस चेष्टापूर्तिमें जो तृप्ति अथवा आनन्दका अनुभव होता है, वह प्रकृतिकी ओरसे मिलनेवाला पुरस्कार है। संततिनिरोधके कृत्रिम उपायोंद्वारा हम प्रकृतिको ठगनेकी प्रयत्न करते हैं जैसा कि पाचनशक्ति निर्बल पड़ जानेपर. जिह्वालोलुप रोगी हलवा चबा-चबाकर थूक देते हैं। भोजनका उद्देश्य है शरीरकी पुष्टि। यदि वह उद्देश्य पूर्ण नहीं होता तो केवल स्वादके लिये भोजन करना कहाँतक कल्याणकारी है ? सभी वासनाएँ बीभत्स हैं। काम-वासना तो संसारकी बीभत्सतम वासना है परंतु एक पवित्र उद्देश्यसे जुड़कर वासनाएँ अपनी बीभत्सताको खोकर सुन्दर रूप धारण करती हैं। वासनाओंको उनके पवित्र उद्देश्यसे हटाकर केवल भोगके लिये वासना रहे, इसमें हम मनुष्यको अधःपतनकी ओर ले जा रहे हैं। पति-पत्नी, माता-पिता एवं संतान ही नहीं, मनुष्य-मनुष्यके बीच घृणा उत्पन्न करनेमें सहायक हो रहे हैं। जीवनमें कोई भी कहीं भी पवित्र लक्ष्यविहीन व्यक्ति सम्मानका पात्र नहीं हो सकता। केवल भोगके लिये जीनेवाले व्यक्तिका यदि हम सम्मान करना भी चाहें तो भी नहीं कर पाते। मानवप्रकृति ही कुछ ऐसी बनी है।'

'संयमका मार्ग ठीक है, परंतु जिनसे संयम नहीं पल सकता, वे क्या करें ?'

'वही जो तुम पशुओंसे कराना चाहते हो। कैसे विचित्र करुणासागर हो तुम, मनुष्योंके लिये तो चाहते हो वे कामभोग करते रहें और उनके संतान न हों; क्योंकि तुम्हारा स्वार्थ इसीमें है। अपने स्वार्थ-के लिये तुम मनुष्यकी संयमसम्बन्धी अशक्तताकी दुहाई देते हो, दूसरी ओर चाहते हो कि पशु बिना कामभोगके ही संतान देते रहें; क्योंकि तुम्हारा स्वार्थ इसीमें है। इसीमें तुम्हारी समता और प्राणिमात्र-की करुणा छिपी हुई है। पशुओंको तो इतने भी काम-

भोगकी अनुमति नहीं देते जो उनका प्राकृतिक अधिकार है और कृत्रिम इंजेकशनके द्वारा उनसे संतानपर संतान लिये जाते हो और मनुष्यको काम-भोगके लिये एकदम निर्बाध छोड़ना चाहते हो !'

'व्यावहारिक पक्षको समझो। विश्वकी जनसंख्या द्रुत गतिसे बढ़ती जा रही है और यदि इसी प्रकारसे बढ़ती रही तो एक दिन मनुष्यको पृथ्वीपर खड़े होनेके लिये भूमि और साँस लेनेके लिये वायु भी नहीं मिल सकेगी। संयमका मार्ग श्रेष्ठ है, मैं मानता हूँ। बिना एक पैसा व्यय किये संतति-निरोध भी होता है और जन-स्वास्थ्य भी सुधरता है परंतु जनता संयमके मार्गपर चल नहीं पाती। संयमसे समस्या सुलझती नहीं।'

'जब एक मार्ग श्रेष्ठ और निरापद है तो उसपर जनता चल क्यों नहीं पाती ?'

'क्योंकि वह मार्ग अत्यन्त कठोर है।'

'क्या चाँदमें जाने और वायुमें उड़नेसे भी अधिक कठोर है। जब तुम्हारा विज्ञान जल, थल और नभके बीहड़-से-बीहड़ मार्गपर चलना सर्वसुलभ कर सकता है तो संयमके मार्गपर चलना क्यों नहीं ? क्या तुम्हारा विज्ञान बाह्य प्रकृतिपर ही विजय प्राप्त करना सिखलाता है, अपने ऊपर नहीं ? क्या तुम्हारे पास ऐसे साधन नहीं हैं जो तुम काम, क्रोध और लोभको पछाड़ सको। यदि नहीं हैं तो सुनो—इस संतति-निरोधी सभ्यताका विनाश निश्चित है। विश्वका इतिहास बतलाता है कि जो विज्ञान आत्मविजयकी ओर अग्रसर होता है, वह उस विज्ञानको पछाड़ देता है जिसने केवल जड प्रकृतिपर ही विजय प्राप्त करना सीखा है। त्रेताके महापण्डित रावणने प्रकृतिकी सभी शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर ली थी। उसका आर्थिक विकास चरम सीमा-पर था। परंतु वह नष्ट हो गया अयोध्याके दो कुमारों-के सामने। अयोध्या तो सोनेकी नहीं थी। अयोध्यामें तो पुष्पक विमान नहीं था, परंतु वहाँ थी कामजयी प्रजा, रावण-जैसी कामलोलुप नहीं।'

'यह सब तो ठीक है, पर आजका मनुष्य पागल है आनन्दके पीछे।'

'और तुम्हारे विज्ञानमें काम-भोगके अतिरिक्त आनन्दका और कोई मार्ग नहीं। बाबा आदमके समय-में जो आनन्दका मार्ग था, वही आज भी है। यह है तुम्हारी प्रगतिशीलता। यही नहीं, आनन्दके अनेक सोतोंको तुमने सुखा दिया है। परिवार, समाज, साहचर्य आदि थे। सब आनन्दके क्षेत्र नष्ट होते जा रहे हैं। ध्रुव-प्रदेश और चन्द्रमाकी खोज होती जा रही है। चन्द्रमा और शुक्रमें जानेवाले वैज्ञानिको ! खोजो कि काम-भोगके अतिरिक्त जीवनमें आनन्दके और भी कुछ साधन हो सकते हैं या नहीं ?'

जीवन सफल कैसे हो ?

मन वशमें हो इन्द्रियनिग्रह सत्य अहिंसा शुद्धाचार।
सर्वभूतहितरतता हो, हो त्यागयुक्त सारे व्यवहार॥
हो वैराग्य भोग-विषयोंमें, हो प्रभुस्मृतिमें दृढ़ आसक्ति।
पल-पल बढ़ती रहे निरन्तर प्रभुपद-कमलोंमें अनुरक्ति॥
देख सदा सर्वत्र श्याम मुखकमल नेत्र-मन हों बड़भाग।
जीवन सफल बने पाकर श्रीहरिमें शुचि अनन्य अनुराग॥

प्रभु-कृपासे घोर अनर्थसे रक्षा

[परमपिता प्रभु किस प्रकार सुबुद्धि और सुप्रेरणा देकर अपने दासों और सेवकोंकी समयपर रक्षा करते हैं।]

(लेखक—प्रसिद्ध नेत्रचिकित्सक डा० श्रीपुरुषोत्तम गिरिधर)

यह घटना अभी पिछले पाकिस्तानके साथ होनेवाले युद्धके दिनोंकी है जब कि पंजाबमें स्थान-स्थानपर पाकिस्तानके छातावाहक जासूस उतरकर तोड़-फोड़की कार्रवाइयाँ कर रहे थे।

यहाँ भिवानीमें 'नागरिक सुरक्षा-समिति'की ओरसे स्थानीय वाटर-वर्क्स एवं बिजलीघर आदि स्थानोंकी रक्षाके लिये 'राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ'के स्वयं-सेवक उत्साहपूर्वक सारी-सारी रात वहाँ पहरा देते थे कि कोई पाकिस्तानी जासूस वाटर-वर्क्समें तोड़-फोड़ न कर जाय अथवा जलमें विष न मिला दे।

एक रात्रिको वाटर-वर्क्सपर जाकर स्वयं-सेवकोंको सँभालनेकी ड्यूटी मेरी लगा दी गयी।

कृष्णपक्षकी नितान्त काली चौदसकी रात्रि थी—हाथको हाथ नहीं सुझायी देता था। मैं रातको ११ बजेके लगभग घरसे निकला। साथमें एक-दो महाजन भाई और भी थे, हम वाटरवर्क्सपर पहुँचे। द्वारपर स्वयं-सेवक पहरा देते हुए मिले। फिर विशाल जल-कुण्डोंपर भी स्वयं-सेवक अपनी-अपनी ड्यूटीपर मिले।

निश्चय किया कि तीनों विशाल जलकुण्डोंकी परिक्रमा की जाय। तीनों एक लाइनमें होनेवाले लंबे-चौड़े जलकुण्डोंके एक ओरसे जाकर जब हम दूसरी ओरसे वापस लौट रहे थे तो मुझे रास्तेमें दाहिनी ओर झाड़ियोंमें लंबा-सा कुछ सफेद-सफेद दिखायी पड़ा। मैंने साथियोंसे पूछा कि 'यह क्या है ?' वे बोले कि 'कोई वाटर-वर्क्सका पत्थर होगा।' मैंने कहा कि 'इतना बड़ा सीधा-सा पत्थर नहीं हो सकता, देखो जाकर यह क्या है ?' मेरा इतना कहना था कि सफेद वस्तुके पीछेसे एक आदमीने निकलकर हमारे एक साथीको दबोच लिया और उसे गिरानेका यत्न करने लगा। मैंने समझ लिया कि पाकिस्तानी जासूस है। झट मैंने अपना रिवाल्वर निकाला, सेफ्टी खोलकर उसे तान लिया और कड़ककर कहा कि 'हट जाओ, वर्ना मैं गोली मारता हूँ।' अब मैं गोली मारूँ भी तो किसको, अँधेरी रात थी, कुछ दिखायी भी नहीं देता था और समझ भी नहीं पड़ रहा था। यों ही गोली छोड़ देनेसे अपने ही किसी आदमीको लग सकती थी।

अब मेरा तो कड़ककर इतना कहना था कि उसी ओरसे एक और किसीनें तुरंत निकल मुझे ही दबोच लिया। मेरे दोनों हाथ उसकी बाँहोंमें जकड़े गये। रिवाल्वर उसके शरीरसे लग नहीं रहा था। नहीं तो, मैं गोली उसे मार ही देता। वह आदमी मुझे नीचे पटकनेका यत्न करने लगा। मैंने देखा कि यदि नीचे गिर गया तो यह यवन पाकिस्तानी मुझे छुरा आदि कुछ-न-कुछ भोंक ही देगा। मैंने भी प्रभुका स्मरण करके और अचकचाकर जोर जो लगाया तो वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और मैं उसकी छातीपर सवार हो गया। रिवाल्वर मेरे हाथमें ही था और मेरा हाथ भी अब आजाद था। मैं अब रिवाल्वरकी गोली उसकी छाती, पेट अथवा उसके सिरमें घुसेड़ सकता था कि इतनेमें मेरे मस्तिष्कमें बिजलीकी तरह यह विचार आ गया कि अब यह जासूस नीचे काबूमें तो आ ही गया है, इसे अब जीवित पकड़ लेना चाहिये। विचारका आना था कि मैं जोर-जोरसे आवाजें देने लगा कि 'आओ रे इसे पकड़ें—आ जाओ रे आ जाओ'—अब चिल्लानेकी ओर मेरा ध्यान जो गया तो स्वतः ही मेरी पकड़ कुछ ढीली हो गयी और वह मेरे नीचेसे निकलने और मुझे गिरानेका

यत्न करने लगा। मैंने चिल्लाना बंद करके उसे दृढ़तासे पुनः धर दबाया तो उसका साँस घुटने लगा और वह बोला कि 'बस ज़ी, अब बहुत हो गया अब जाने दीजिये।' मैंने समझा कि आत्मसमर्पण कर रहा है। मैंने कड़ककर पूछा 'बताओ तुम कौन हो' तो वह बोला कि 'मैं इन्हींमेंसे एक स्वयंसेवक हूँ।' धत् तेरे की—मैंने तुरंत उसे छोड़ दिया और उस महान् प्रभुका धन्यवाद—लाख-लाख धन्यवाद करने लगा, जिसने ठीक समयपर मुझे यह सुबुद्धि और सुप्रेरणा देकर मेरी और उसकी रक्षा की कि उसे जीवित पकड़ना चाहिये, अन्यथा यदि कहीं उस समय मेरे मस्तिष्कमें यह विचार आ जाता कि यह पाकिस्तानी मुसलमान जासूस है, हमारे वाटर-वर्क्सके जलमें विष मिलाने आया है, इसे गोली ही मार देनी ठीक है तो मैं अवश्य ही उसकी छाती या सिरमें गोली मार देता और फिर इसका क्या भयंकर परिणाम होता सो तो भगवान् ही जानते हैं। ऐसे समयके उत्तेजित मस्तिष्कमें सोचने-समझने या विचार करनेकी शक्ति तो होती नहीं जो विचार विद्युतवत् मस्तिष्कमें आ जाय, हाथ तुरंत वैसा कर ही देते हैं। यदि प्रभु उस समय मुझे ऐसी सुबुद्धि और सुप्रेरणा न देते तो अनर्थ और अत्याचार ही हो जाता।

मैं साठ वर्षकी अवस्थाका और वह स्वयंसेवक पचीस-तीस वर्षका युवा। यदि प्रभु मुझे शक्ति न देते और मैं नीचे और वह ऊपर आ जाता तब भी मैं निश्चय रूपसे बस चलते उसको बिना किसी विचारके गोली मार ही देता; पर प्रभु तो अपने दासोंकी समयपर रक्षा करते ही हैं।

स्वयं-सेवक मेरे साहसकी परीक्षा ले रहे थे और वह सफेद वस्तु एक तनी हुई सफेद चादर थी। झाड़ियोंमें जिसके पीछे दो स्वयं-सेवक मुझे दबोचनेके लिये छिपे बैठे थे।

कई वर्ष पूर्व ठीक इसी प्रकार प्रभुने एक बार पहले भी ठीक समयपर मुझे सुप्रेरणा और सुबुद्धि देकर मेरी रक्षा की थी। वह इस प्रकार कि—

मैं अपने अस्पतालके कमरेमें रोगी देख रहा था कि अपने वाम पार्श्ववाली पासकी खिड़कीसे बाहर खड़ा हुआ एक फौजी जवान दिखायी दिया, उसके हाथमें उसकी फौजी राइफल थी। मैंने खिड़कीसे ही उसके हाथसे वह राइफल ले ली और उससे पूछा कि 'ठीक है न ?' वह बोला कि 'ठीक है बिल्कुल'। मैं संतुष्ट हो गया।

अब मेरा तात्पर्य तो पूछनेका यह था कि 'यह राइफल ठीक है न, भरी हुई तो नहीं है ?' और उसका उत्तर 'बिल्कुल ठीक है' का तात्पर्य उसके अनुसार यह था कि 'हाँ भरी-भराई है।'

अब राइफलकी नालीका मुख उस फौजी सिपाही-की छातीकी ओर था और मेरी अँगुली उसके घोड़ेपर—मैं उस घोड़ेको अँगुलीसे दबाना ही चाहता था, प्रत्युत आधा तो दबा ही चुका था कि मेरे मस्तिष्कमें प्रभुने यह प्रेरणा दी कि एक बार इसे खोलकर देख तो लें, कहीं भरी हुई न हो। मैंने तुरंत खोलकर देखा तो सचमुच उसमें गोली भरी हुई थी। यदि ठीक समयपर एक सेकंड पूर्व मुझे प्रभु यह बुद्धि और प्रेरणा न देते तो गोली उस फौजी जवानकी छातीके पार हो जाती और पीछे फिर क्या होता, यह विचारते ही रोमाञ्च होता है।

मैं दोनों अवसरोंपर उस महान् पिताका धन्यवाद करते नहीं थका। मैं पाठकोंसे प्रार्थना करता हूँ कि इन दोनों सत्य घटनाओंसे प्रेरणा लें और गायत्रीमन्त्रका दैनिक जप किया करें। 'धियो यो नः प्रचोदयात्', समयपर प्रभु अवश्य प्रेरणा देकर रक्षा करते रहेंगे। शान्ति!

श्रीगायत्री-रामायण

ॐ तत् १-१-१-ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

स १-३०-२४-स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ॥ २ ॥

वि १-६७-१२-विश्वामित्रः स धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम्।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ ३ ॥

तुर् २-१५-१९-तुष्टावास्य तदा वंशं सुमन्त्रः स विशाम्पतेः।
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ॥ ४ ॥

व २-३९-१५-वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ[१] ॥५॥

रे २-६७-३४-राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ६ ॥

णि २-९९-२५-निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम्।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ ७ ॥

यं ३-११-४३-यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते ॥ ८ ॥

भर् ३-४३-१८-भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ ९ ॥

गो ३-७२-१७-गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥१०॥

दे ४-२२-२०-देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥११॥

व४-४३-३२-३३-वन्द्यास्ते[२] च तपःसिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः।
प्रष्टव्या चैव सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ॥१२॥

स्य ५-४-१-स निर्जित्य पुरीं लङ्कां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः[३] ॥१३॥

धी-५-२६-३९-धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
मम पश्यन्ति ये नाथं रामं राजीवलोचनम् ॥१४॥

---

१. इस श्लोकमें प्रायः बहुत पाठभेद मिलता है। २. पाठभेद—वन्दितव्यास्ततः। ३. पा० भे०—कपिसत्तमः।

म-५-५३-२६—२७-मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः ।
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम् ॥१५॥

हि ६-१०-२७-हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीतकालायतिसम्प्रतिक्षमम् ।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः प्रसङ्गवानुत्तरमेतदब्रवीत् ॥१६॥

धि ६-४१-६८-धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठः सम्प्राप्तोऽयं विभीषणः ।
लङ्कैश्वर्यमिदं श्रीमान् ध्रुवं प्राप्नोत्यकंटकम् ॥१७॥

यो-६-५९-१३९-यो वज्रपाताशनिसंनिपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा ।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तश्चचाल चापं च मुमोच वीरः ॥१८॥

यो ६-७२-११-यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः ।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ॥१९॥

नः ६-९३-२६-न ते ददृशिरे रामं दहन्तमरिवाहिनीम् ।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना ॥२०॥

प्र ६-११६-२४-प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥२१॥

चो ७-१६-२६-चालनात्पर्वतेन्द्रस्य गणा देवस्य कम्पिताः ।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ॥२२॥

द ७-३४-४१-दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम् ।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ॥२३॥

यात् ७-६६-१-यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥२४॥

अथवा (यावदावर्तते चक्रं यावती च वसुन्धरा ।
तावत् त्वमिह लोकस्य स्वामित्वमवधारय ॥)

इदं रामायणं काव्यं गायत्रीबीजसंयुतम् ।
त्रिसंध्यं यः पठेन्नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥

(ऊपरके अन्तिम श्लोकमें) महर्षि वाल्मीकिका रामायण गायत्री-बीजमय कहा गया है । प्रसिद्ध है कि रामायणके २४ हजार श्लोक गायत्रीके २४ अक्षरोंपर प्रतिष्ठित हैं । प्रत्येक सहस्रके बाद दूसरे (गायत्र्यक्षरपर ही पुनः नये) गायत्री-बीजमय श्लोक उपलब्ध होते हैं । यहाँ ऊपर संख्यासहित उन्हीं श्लोकोंको दिखलाया गया है । कुछ विद्वानोंने इसके अन्य रूप भी दिये हैं; पर वे जँचे नहीं । पाठकोंके अनुरोधपर इस युक्ततम एवं युक्तिसंगत-क्रममय-गायत्री रामायणको ही यहाँ छापा गया है । (पं० श्रीजानकीनाथशर्मा)

समर्पण और स्वीकृति

(लेखक—श्रीनरेशचन्द्रजी मिश्र)

जनस्थानके नर-नारी भाव-विभोर हो उठे। नगरके श्रेष्ठतम विद्वान् ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रीपति प्रयागकी तीर्थयात्रा-पर जा रहे थे। तीर्थराजकी पावन त्रिवेणी-धाराने वैभव-शाली श्रीपतिको आकर्षित किया था। माघ मासके पुण्यदिवस निकट आ रहे थे और जगत्को प्रकाशका दान करनेवाले सूर्यदेव मकर राशिमें प्रवेश करनेवाले थे।

आचार्य श्रीपतिने प्रयाग-यात्राके लिये विधिवत् संकल्प लिया। धन-वैभवकी उन्हें कमी न थी। यात्रा प्रारम्भ करनेके पूर्व वे नगरमें यज्ञ, होम, दीन-सत्कार और गुरुजनोंकी पूजा कर रहे थे। उनकी तीर्थयात्रामें हाथी, घोड़े, गाड़ी एवं दास-दासियोंका विशाल समूह सज रहा था। यात्राका पुण्य-लाभ परिवारको भी करानेके लिये उन्होंने अपनी सहधर्मिणी और ज्येष्ठ पुत्र तथा पुत्रवधूको भी साथ ले लिया था।

ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रीपतिने यात्राके पूर्व अपरिग्रहका संकल्प लिया था—नगरके राजमार्गोंपर घोषणा की गयी कि तीर्थयात्रापर जा रहे श्रीपति कोई दान स्वीकार न करेंगे।

और आचार्य श्रीपतिकी तीर्थयात्राका विशाल आयोजन जनस्थानके नागरिकोंको श्रद्धासे विह्वल बना रहा था।

आचार्यके विशाल भवनसे सटी एक झोपड़ी थी। इसमें रहता था जय। वह जातिका नाई था। दिन-भर वह जनस्थानके नागरिकोंके बालपर कैंची चलाता, इसके साथ ही उसकी जिह्वाकी कैंची भी चला करती। बाहर करानेवाले ग्राहक उसकी वाचालताकी कैंचीसे अधिक प्रभावित होते।

आचार्य श्रीपति प्रयागयात्राके लिये विघ्नहरण गणेशका स्मरणकर रथपर बैठनेवाले थे कि जयने उनके चरण पकड़ लिये।

'कौन, जय!' आचार्य श्रीपतिने उसकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—'इतनी भोर कैसे निकल पड़े?'

'आपसे न्याय माँगने आया हूँ, महाराज!'

'न्याय!' चौंक पड़े श्रीपति।

'हाँ, देव! आप पड़ोसीको छोड़कर अकेले तीर्थ-यात्रापर जा रहे हैं।' जयकी जीभकी कैंची चलने लगी। 'आप स्वयं मुक्त होकर अपने चरणोंमें पड़े इस क्षुद्रको भवसागरमें ही रहने देना चाहते हैं। क्या यह आप-जैसे उदारमना द्विजश्रेष्ठके लिये उचित है?'

हँस पड़े श्रीपति, 'तुम भी चलो, बन्धु! मुझे प्रसन्नता होगी, किंतु········'

'किंतु, क्या महाराज!'

'मैंने तो नियम-विधानसे तीर्थ-यात्राकी व्यवस्था की, अपरिग्रहका संकल्प लिया। पर तुम एकाएक चलनेको प्रस्तुत हो गये।'

जयने श्रीपतिका चरण न छोड़ा, उसके जबानकी कैंची और तेज हो गयी। 'आपके विधानकी विशालता सारे नगरकी तीर्थ-यात्राके लिये पर्याप्त है प्रभो! रही संकल्पकी बात! सो, मैं भी व्यवसाय-त्यागका व्रत लेता हूँ। तीर्थयात्राके बीचमें जीविकाकी चिन्ता नहीं करूँगा।'

हँस पड़े श्रीपति, 'सुन्दर, बहुत सुन्दर। यह हुआ तुम्हारा अपरिग्रह। यह मेरे अपरिग्रहसे कम नहीं।'

और उन्होंने प्रयागयात्रामें जयको भी साथ ले लिया।

× × ×

आचार्य श्रीपतिका यात्रा-दल त्रिवेणीतटपर पहुँचा तो सूर्यकी अन्तिम इंगुरी किरणें गङ्गा-यमुनाकी लहरियों-को भेंटकर विदा ले रही थीं। आचार्य श्रीपतिको मार्गमें अप्रत्याशित रूपसे विलम्ब हो गया था। वेणीमाधवके

दरबारमें पहुँचकर वे बिना स्नान, ध्यान और दान-पुण्य कर लिये जल भी कैसे ग्रहण करते ?

रथ रोके गये, सेवक दौड़ाया गया। तीर्थ-पुरोहित और कर्मकाण्ड करानेवाले ब्राह्मण तो मिल गये, किंतु नाई नहीं मिल सका। सूर्यास्तके बाद सभी नाई अपने-अपने घर चले गये थे।

आचार्य श्रीपतिके सामने समस्या खड़ी हो गयी। तीर्थराजमें आकर मुण्डन कराये बिना सारा कर्मकाण्ड व्यर्थ होता। विवश होकर वे जयकी ओर घूम पड़े, 'आयुष्मन्! क्या तुम मेरी सहायता करोगे ?'

आचार्य जो सहायता चाहते थे, नाई जयसे वह छिपी न थी। वह हाथ जोड़कर बोला—'यह शरीर आपकी सेवामें समर्पित है देव! जो धर्मविहित है, जो करणीय है, उसे करनेको मैं सदा प्रस्तुत हूँ।'

आचार्य अस्तव्यस्त स्वरमें बोले—'करणीय तो है। क्षौर तुम्हारा व्यवसाय है और हम तुमसे मुण्डन कराना चाहते हैं।'

जयने नम्रतासे आचार्यके चरण पकड़ लिये—'क्षौर करना मेरा व्यवसाय अवश्य है किंतु इस तीर्थयात्रा-में यह धर्मविरुद्ध होगा।'

आचार्यने प्रलोभन दिया—'देखो जय! तुम स्वयं तो व्यवसाय-बुद्धिसे हमारा क्षौर मत करो, तुम इसे धर्मबुद्धिसे करो।'

जयने आश्चर्यसे माथेपर हाथ रख लिया—'तो मैं क्षौरद्वारा आपके ऊपर उपकार करूँ क्या ? आप इसके लिये मुझे शुल्क देनेका आग्रह न करेंगे ?'

आचार्य हँस पड़े—'यह कैसे सम्भव है ? तीर्थमें बिना दक्षिणा क्षौर करानेसे पुण्य नष्ट होगा। मैं तुझे अपनी ओरसे सोनेकी कटोरी, छुरा और पुत्रकी ओरसे सोनेकी कैंची दूँगा।'

जयका स्वर कठोर हो आया—'जिस प्रकार शुल्क दिये बिना आपका पुण्य नष्ट होगा, उसी प्रकार शुल्क लेनेसे मुझे पाप होगा देव! मैं निर्धन हूँ, रंक हूँ किंतु संकल्पका आग्रही हूँ।'

'सुनो तो जय!'

'क्षमा करें आचार्य! निर्धनकी प्रतिज्ञा, उसकी भावना और भक्ति ही उसका धन है। मैं आपका क्षौर करके माधवराजको क्या उत्तर दूँगा ?'

आचार्य गम्भीर हो आये—'सोच लो जय! मुझसे मिले सोनेको दान देकर तुम तीर्थयात्राका पुण्य कमा सकते हो।'

'मेरे पास जो है, मैं उसीको देकर मुक्ति-लाभ करूँगा।' जय दृढ़ स्वरमें बोला। 'संकल्पसे भ्रष्ट होकर कमाये सोनेका दान मेरे पुण्यमें बढ़ती नहीं करेगा।' श्रीपति मौन हो गये, उन्होंने सेवक भेजकर नगरसे नाई बुलवाया। क्षौर, स्नान और पूजनके बाद दानकी बारी आयी। जनस्थानके वैभवसम्पन्न गृहपतिने ब्राह्मणों-को स्वर्ण, अन्न, वस्त्र, गाय आदि चौरासी प्रकारके दान दिये। संगमके पवित्र तटकी हवा श्रीपतिके दान-वैभवसे सुरभित हो उठी। उनकी सहधर्मिणी और पुत्र तथा पुत्रवधूने भी दोनों हाथों धन लुटाया।

तब आयी नापित जयकी बारी। कर्मकाण्ड वह भी करवा चुका था। तीर्थपुरोहित उससे द्रव्यकी आशा लगाये बैठे थे। वह उठकर रथमें गया। उसने एक पोटली निकाली और तीर्थपुरोहितके पास लौटा, 'मुझ अकिंचनके पास यही है, यही मेरा सर्वस्व है। कृपया स्वीकार करें भूदेव!' कहकर उसने अपनी पोटली पुरोहितकी ओर बढ़ा दी।

पुरोहितने ललचायी दृष्टिसे पोटलीकी ओर देखा—'क्या है इसमें ?'

'मेरा सर्वस्व।'

पुरोहितने पोटली खोली—अंदर थी क्षौरकी एक पेटिका। उसमें थे छुरे, कैंचियाँ, शीशा, कंघा, कटोरी और नहन्नी।

पुरोहितने झटकेसे पोटली बालूपर पटक दी, 'शूद्र ! पातकी !! क्या मैं नाई हूँ जो क्षौरके उपकरण दानमें लूँगा ।'

अकिंचन जय एक क्षणको स्तब्ध रह गया । तब उसने बालूमें पड़े छुरे, कैंचियोंको उठाया और पोटली बाँधकर तीर्थपुरोहितकी ओर बढ़ाता बोला—'देव ! मैं दीन-हीन और कुछ नहीं दे सकता । इसे ही स्वीकार करें ।'

'रख-रख—इसे अपने ही पास रख । तूने क्षौर-सामग्री देकर ब्राह्मणका अपमान किया है । माधवराज तेरे इस उपहासका फल देंगे ।'

'उपहास नहीं—यह भावना है देव ! अकिंचनके पास तो केवल भावना होती है ।'

'मुझे तेरी यह भावना स्वीकार नहीं ।' कहकर तीर्थपुरोहित चला गया ।

जय तब बारी-बारी संगमतटके प्रत्येक तीर्थपुरोहित-के पास गया और क्षौरकी पोटली लेनेकी विनती करने लगा, पर उसकी प्रार्थना किसीने स्वीकार न की ।

वह लौटकर आचार्य श्रीपतिके पास आ खड़ा हुआ । हतप्रभ चेहरे और विवर्ण नेत्रोंसे वह गङ्गा-यमुनाकी सितासित धाराको निहारने लगा ।

श्रीपति उपालम्भ-भरे स्वरमें बोले—'देखा, जय ! मैं पहले ही कह रहा था । तुमने मेरा अनुरोध मानकर क्षौर किया होता—तुम्हारी कैंचियाँ और छुरे सोनेके होते तो ब्राह्मण उन्हें स्वीकार कर लेते ।'

'परंतु क्यों, ऐसा क्यों देव ? दानका महत्त्व सोने [illegible] लोहेसे है या हृदयकी निष्ठासे ?'

'यह तो तुम उन्हीं तीर्थ-पुरोहितोंसे पूछो आयुष्मन् !'

'उनसे क्यों पूछूँ, क्यों पूछूँ उनसे ? जयने फफकते [illegible]ुए पोटली कछारमें फेंक दी, मैं तो तीर्थराजसे पूछूँगा-—[illegible] माधवराजसे पूछूँगा । दान की हुई वस्तु लौटायी नहीं जा सकती । यदि मेरी भावना अकलुष है, मेरी निष्ठा सत्य है तो प्रभु स्वयं इस दानको स्वीकार करेंगे ।'

'और यदि वे नहीं स्वीकार करें ?'

'तो मैं प्राण त्याग दूँगा—मैं शरीरपात करूँगा—यह मेरा दूसरा संकल्प है ।'

—कहकर जय पागलोंकी तरह गङ्गातटकी ओर दौड़ गया । तीन दिनतक वह सुध-बुध भूलकर रोता, कलपता संगम-तटपर पड़ा रहा । कभी वह ध्यानस्थ बैठ जाता, कभी उठकर दौड़ने लगता । कभी वह संगमके जलमें स्नान करने लगता ।

चौथे दिन एक वृद्ध ब्राह्मण, जो वस्त्रोंसे दीन लगता था, उसके पास आया 'जय माधवराज, तुम कुछ उद्विग्न दीख रहे हो यजमान !'

जय फफक पड़ा । उसने अपनी सारी व्यथा बतलायी और बोला, 'मैंने अपना सर्वस्व दे दिया पर पुरोहितोंने उसका तिरस्कार कर दिया । मेरी तीर्थयात्रा व्यर्थ हो गयी ।'

ब्राह्मण हँस पड़ा, 'कहाँ है तुम्हारा सर्वस्व, मुझे दान कर दो । मैं तो सब कुछ ले लेता हूँ ।'

'क्या सच देव ?'

'हाँ, हाँ ! तुम देकर स्वयं देख लो ।' ब्राह्मणके झुर्रीदार चेहरेपर आभा छिटक आयी ।

जय पागलों-सा उस ओर दौड़ पड़ा, जहाँ उसने पोटली फेंकी थी । किंतु पोटली अब वहाँ नहीं थी । जयने कछारका कोना-कोना छान मारा, पर पोटलीका कहीं पता न चला ।

वह लौटकर ब्राह्मणके चरणोंमें गिर पड़ा और टूटते स्वरमें बोला, 'दुर्भाग्य मेरे पीछे पड़ गया है ! दान स्वीकार करनेवाले मिले तो पोटली ही खो गयी ।'

ब्राह्मणने उसे उठाया, 'घबराओ मत, चलो मैं भी देखूँ । कहाँ फेंकी थी पोटली ।'

दोनों कछारमें ढूँढ़ने लगे। तभी ब्राह्मण जयके पास आया। उसने एक पोटली उसे दिखाते हुए कहा, 'देखो यह तो नहीं है ?'

'हाँ, हाँ यही है, कहाँ मिली आपको ?' जयने आग्रहपूर्वक पोटलीको हृदयसे लगा लिया।

'यह तो मेरे पास तीन दिनसे है।' ब्राह्मण रहस्यपूर्ण हँसी हँस पड़ा।

'तीन दिनसे ?'

'हाँ, इसे तो मुझे जय नामक एक नाईने दिया था।'

जय आश्चर्यसे आँखें फाड़कर पूछ बैठा, 'आप कौन हैं देव ?'

'मैं वही हूँ, जिसे तुम पुकार रहे हो।'

और एक ही क्षणमें संगमकी पवित्र बालुका-राशिपर आश्चर्यकी सृष्टि हो गयी। वृद्ध ब्राह्मण अन्तर्धान हो गया और उसके स्थानपर शङ्ख, चक्र, गदाधारी वेणीमाधव साक्षात् प्रकट हो गये!

विस्मय-विमुग्ध जय भगवान्के चरणोंमें लोट गया, 'प्रभु आप ?'

'हाँ वत्स! मैंने तेरा दान स्वीकार कर लिया था, किंतु तू दुखी था, अतएव मैं स्वयं उसे तेरे हाथसे स्वीकार करने आया हूँ।'

'मैं धन्य हो गया तीर्थराज!'

'धन्य तू नहीं, मैं हुआ वत्स! तेरा दान अबतक मुझे भेंट किये गये सभी दानोंसे श्रेष्ठ है—यह मुझे श्रीपतिके स्वर्णाभूषणोंसे भी अधिक प्रिय है।'

और दीनबन्धु माधवने अकिंचन जयको अपने वरद हस्तसे कृतार्थ कर दिया। उसका दान स्वीकार कर उन्होंने उसकी भावनाको अमर बना दिया।

उदात्त सङ्गीत

(२) शिवशंकर महादेव

क्यों विलासिताको आवश्यकता मान मान
मानव-जीवनका जीवन-मान घटाते हो।
अपनी असीम इच्छाओंके बढ़ते बन्धन
क्यों अपने हाथों और बढ़ाते जाते हो? ॥ १ ॥

नर-नरमें कैसा वैर? वैर तब होता है,
जब काम, क्रोध, मद, मोह सामने आते हैं।
विजयी वह है, जिसके सम्मुख ये छिपे शत्रु
अपनी छापामारी ही आप भुलाते हैं ॥ २ ॥

एकाकी कौन? विभुत्व जब कि सर्वत्र यहाँ
सकरेपनमें जो हैं, वे ही एकाकी हैं।
जो भेद-भावके भेदी हों यह भेद लखें
अणिमा पर भी महिमाएँ अयुत भुजाकी हैं ॥ ३ ॥

सम्मान मिले हैं तो अपमान मिलेंगे ही,
प्रत्येक प्रात संध्याको न्योत बुलाता है।
पर जो काली रातोंका जहर पचा जाये,
वह ही शिवशंकर महा-देव कहलाता है ॥ ४ ॥

—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र

पढ़ो, समझो और करो

(१)

करनीका फल हाथोंहाथ

घटना उस समयकी है जब मैं सारोठकी प्राथमिक शालामें अध्यापक था। बाबू ओमप्रकाशजीके विवाहकी बारात उदयपुरसे रतलाम जा रही थी। सभी बड़े-बूढ़े लोग ओमप्रकाशजीके साथ द्वितीय श्रेणीमें थे। पर मैं आमोद-प्रमोदमें सुविधाकी दृष्टिसे कॉलेजके विद्यार्थियोंके साथ तीसरी श्रेणीके एक डिब्बेमें सवार हुआ। ट्रेन चली और हमलोगोंके आमोद-प्रमोदकी निरंकुश धारा भी बड़े वेगसे चलने लगी। मैं कोट-पेन्टमें था ही, मिलिट्री बूट पहने था। छोटा-सा डंडा हाथमें लिये नकली थानेदार बन गया। यद्यपि हमलोगोंका डिब्बा खाली था, पर किसी भी यात्रीको मैंने डंडेके जोरसे अंदर नहीं आने दिया। जो आते, उन्हें यह कहकर कि 'डिब्बा रिजर्व है, मैं थानेदार हूँ।' डाँट-फटकार देता। बेचारे यात्री करुणदृष्टिसे मेरी ओर देखते हुए चले जाते। प्रत्येक स्टेशनपर मेरा यही दानवी रूप प्रकट होता।

मावली स्टेशनपर २० मिनट गाड़ी ठहरी। तमाम बरातियोंने खूब मेवा-मिष्टान्न खाया-पीया। हमलोग डिब्बेमें सवार होने लगे तब दो व्यापारियोंने बड़ी विनम्रतासे अंदर आनेके लिये आज्ञा माँगी। मैंने कहा—'दरवाजेके पास खड़े रहना।' उन बेचारोंने स्वीकार कर लिया। वे अंदर आ गये और हमलोग अपने गाने-बजानेमें लग गये। ट्रेन छूटने ही वाली थी कि एक ग्रामीण आदमी अपनी पत्नी-बच्चेके साथ गाड़ीमें सवार होनेको आगे बढ़ा। व्यापारियोंने उसको रोका, पर उसने जबरदस्ती अपनी स्त्री और बच्चेको अंदर धकेल दिया और वह स्वयं आनेकी चेष्टा करने लगा। मैंने उसे डाँटा। उस बेचारेने गिड़गिड़ाकर कहा—'बाबूजी! मैं खिड़कीके पास खड़ा रहूँगा। आपका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।' मैंने उसकी प्रार्थनाको अपनी शानके खिलाफ समझा और धक्का देकर उसे बाहर निकाल दिया। ट्रेन चल दी। उसकी स्त्री और बच्चे रह गये और वे रोने-बिलखने लगे। वह बेचारा चलती ट्रेनमें पीछेवाले डिब्बेकी खिड़कीका हेण्डल पकड़कर लटकता हुआ चला। दूसरे स्टेशनपर उन लोगोंका मिलाप हुआ। हमलोगोंका आमोद-प्रमोद वैसे ही चलता रहा।

कपासन स्टेशनसे दस मील अगले स्टेशनपर रतलाम पहुँचनेके लिये खंडवावाले डिब्बेमें जाकर बैठनेको काका साहबने आदेश दिया। इतनेमें ट्रेन चल दी। अब मैं जिस डिब्बेमें बैठने जाता, वहीं मुझे धक्के और फटकार मिलती। एक डिब्बेमें मैं चढ़ा ही था कि मुसाफिरोंने मुझे धक्का दिया और मैं नीचे गिर पड़ा। रेलने गति पकड़ी और वह तेजीसे चल दी। निराश, अनजान, अपरिचित क्षेत्र, रात्रिके १० बजेका समय—मेरी बुरी हालत थी। ट्रेन मेरे सामने ही मेरे साथी बरातियों और दूल्हेको लेकर चल दी। मैं पागल-सा खड़ा देखता रहा। निराश होकर मैं स्टेशनमास्टर साहबसे मिला। उन्होंने मेरी मूर्खतापर खेद प्रकट करते हुए रेलकी पटरी-पटरी वापस कपासन पहुँचकर रात्रिको किसी ट्रकके द्वारा चित्तौड़ पहुँचनेका परामर्श दिया। मैं रोता हुआ पटरी-पटरी पैदल चलकर दो बजे रातको कपासन पहुँचा। थककर चूर हो गया। अपने अपराधके लिये पश्चात्ताप करता और रोता हुआ बार-बार भगवान्‌से क्षमा-याचना करता रहा। कपासनके चौराहेपर लगभग एक घंटे रोते हुए प्रतीक्षा करनेके बाद एक बस आयी। वह किसी बारातको लेनेके लिये चित्तौड़ होकर निम्बाहेड़ा जा रही थी। मैंने दीन शब्दोंमें बसवालेसे प्रार्थना की और बसवालेने कृपा करके मुझे बैठा लिया। चित्तौड़ पहुँचे ही थे कि अजमेर-वाली ट्रेन रतलाम जानेके लिये खड़ी थी। जल्दी-जल्दी रतलामका टिकट लिया। टिकटका मूल्य ४) ५० पैसे था। दस रुपयेका नोट दिया। जल्दीमें वापस पैसे लेना भूल ही गया। किसी तरह रतलाम पहुँचा, पर कन्यापक्षवालोंका पता मैं जानता नहीं था। संध्याको विवाह होनेवाला था। समयपर पहुँचना आवश्यक था। मैंने पहले कभी देखा नहीं। घंटों फिर खड़ा रहा। आँखोंमें आँसू, मुँहमें रामका नाम और अपनी करनीका पश्चात्ताप! मैं अलग एक तरफ खड़ा था। ताँगेवाले आते और मेरी कहानी सुनकर मजाक उड़ाते हुए चले जाते। एक बूढ़े ताँगेवालेने ३) किरायेपर यह स्वीकार किया कि 'अरोड़ा परिवारका प्रत्येक घर देखकर मैं आपको वहाँ पहुँचा दूँगा।'

प्रायः पूरे रतलामकी परिक्रमा करके शामके चार बजे मैं बारातवालोंके पास पहुँचा। सारे बराती लोग बड़े चिन्तित थे। मेरे पहुँचनेपर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और बच्चोंको प्रसाद बाँटा गया।

मैं सोचने लगा कि एक घंटेकी नकली थानेदारीका, गरीबोंको दुःख देनेका, यात्रियोंका हक छीननेका और उनके साथ दुर्व्यवहार करनेका भगवान्ने मुझे तत्काल ही व्याज-सहित पूरा बदला दे दिया। अतः यदि कोई असली थानेदार जो मानवताको भूलकर अत्याचार करते होंगे और जो लोग रेल चढ़ते यात्रियोंसे दुर्व्यवहार करते होंगे, पता नहीं उनकी क्या दशा होगी? मुझे इस घटनासे बड़ी शिक्षा मिली। तबसे मैंने डंडा रखना छोड़ दिया। उस दिनसे मेरे व्यवहारमें विनम्रता आ गयी। तबसे मैं अब कहीं भी जाता हूँ तो दूसरे यात्रियोंकी सुख-सुविधाका ध्यान रखता हूँ। उनको आराम पहुँचानेकी पूरी चेष्टा करता हूँ। भगवान्का मङ्गलमय विधान सभीका मङ्गल करता है। मुझ अपराधीको भगवान्ने दण्ड देकर मेरा बड़ा मङ्गल किया। मेरी इस घटनासे सबको यह सीखना चाहिये कि किसीके साथ दुर्व्यवहार करनेका फल बहुत बुरा हुआ करता है।

—गणेशलाल रावल कल्लाजीवाला (अध्यापक)

(२)

ग्रामीण अशिक्षित स्त्रीकी समयोपयोगी सूझ

भाषा-आन्दोलनको लेकर बम्बई शहरमें भयंकर दंगा हो रहा था। चारों तरफ गुंडोंकी बदमाशी जोरोंपर थी। उस समय इस शहरके कुछ लोगोंने मिलकर एक 'संरक्षण-समिति'का संगठन किया और २४ घंटेके पेट्रोलिंग (चौकी-पहरे) की व्यवस्था की। स्वयं-सेवकोंको अपने बचावके लिये सरकारकी मंजूरीसे लाठियाँ दी जाती थीं। मोटरकी पिछली सीटपर नोंकदार लाठियोंका एक बड़ा गट्ठर रखे मैं विल्लेपार्ले जल्दी पहुँचनेके लिये तेजीसे गाड़ी चला रहा था। रास्तेमें एक रेलवे क्रॉसिंग पड़ती थी। दंगेका समय, सूनसान रास्ता, मोटरमें मैं अकेला आदमी और पिछली सीटपर लाठियोंका पुलिंदा—अतः रेलवे क्रॉसिंगपर रुकना न पड़ जाय और तुरंत उसे पार कर जाऊँ—इस आशासे गाड़ीकी गति और तीव्र करके मैं क्रासिंगके फाटकतक पहुँच गया, परंतु दुर्भाग्यवश मेरे वहाँ पहुँचते ही फाटक बंद हो गया। अब तो आधा घंटा यहाँ रुकना पड़ेगा—इस डरसे मेरे हाथ-पाँव ढीले होने लगे।

उधरसे जाते-आते दंगाइयोंकी नजर मेरी मोटरकी तरफ पड़ती और वे पीछे रक्खे लाठियोंके ढेरको देखकर धीरे-धीरे फुसफुसाते हुए क्रोधभरे नेत्रोंसे मेरी ओर घूरते थे। एक बार तो मनमें आया कि मोटर छोड़कर भाग जाऊँ।

उसी समय एक पिछड़ी जातिकी अनपढ़ मछलीमार स्त्री उधरसे आ निकली। वह मेरी विकट स्थितिका अनुमान लगाकर बिना बुलाये ही मेरे पास आकर बोली—'भाई साहब! ऐसे दंगेके समय इस प्रकार खुले आम लाठियाँ लेकर आप यहाँ रुक रहे हैं? दंगा करनेवाले देखेंगे तो अवश्य ही आपको मार-पीटकर सब लाठियाँ लूट ले जायँगे। इस प्रकार यहाँ खड़े रहकर तो आप विपत्तिको स्वयं आमन्त्रित कर रहे हैं।'

मैंने नम्रतासे उसको सारी बातें समझायीं। इसी बीच लाठी-पत्थरोंसे सज्जित दंगाइयोंका एक टोला दिखायी पड़ा। उन्हें देखते ही मेरे तो होश गुम हो गये; पर वह चतुर सावधान बहिन तुरंत सारी परिस्थिति समझ गयी और चटसे मोटरका दरवाजा खोलकर मेरी बगलकी सीटपर आकर बैठ गयी। तबतक दंगाइयोंका टोला नजदीक आ पहुँचा और उनमेंसे एक व्यक्तिने कड़कड़ाती आवाजमें पूछा—'ये लाठियाँ किसकी हैं और कहाँ ले जायी जा रही हैं?'

उस बहिनने झटसे जवाब दिया—'ये लाठियाँ तो मछलियोंका बोझा उठानेवाली काँवड़ें बनानेके लिये हम कुरला ले जा रहे हैं। किसीको मारनेके लिये नहीं।'

अपनी ही जातिकी एक स्त्रीके मुँहसे यह बात सुनकर उनको विश्वास हो गया और अपनी ही समझकी भूल थी—इस प्रकार आपसमें बातें करते-करते वे लोग चले गये।

सौभाग्यसे उसी समय फाटक खुल गया और ... तत्काल क्रॉसिंग पार करके हमलोग सकुशल अपने स्थानपर पहुँच गये। 'तुम्हारी समयोपयोगी सूझके कारण मैं मार खाते-खाते बच गया' यों कहते हुए मैंने उस बहिनका बहुत ही आभार माना और कहा—'खड़ी रहो, मैं तुम्हें मोटरसे घर

पहुँचा आऊँ।' पर मेरे शब्द मेरे मुँहमें ही रह गये और वह बहिन चली गयी। (अखण्ड आनन्द)

—शान्तिलाल बोले

(३)

गरीबीमें ईमानदारी

भ्रष्टाचार और अनीतिके इस युगमें कभी-कभी प्रतीत होता है कि सदाचार और ईमानदारी नामकी कोई चीज ही इस दुनियामें नहीं है; पर कभी-कभी जीवनमें ऐसी घटना घटित हो जाती है, जिससे यह प्रकाशमें आता है कि दुनियामें अब भी (दालमें नमकके बराबर ही सही) सदाचारी एवं ईमानदार व्यक्ति वर्तमान हैं और उन्हींके बलपर यह दुनिया पतनके गड्ढेमें गिरनेसे बची हुई है। ऐसी ही एक घटना-का विवरण नीचे दिया जा रहा है जो देखनेमें बहुत छोटी-सी प्रतीत होती है, पर जिसका आदर्श बहुत ही उच्च है।

घटना बहुत पुरानी नहीं है; इसी १९६५ की है। मेरे पिताजीकी कटपीसके कपड़ेकी साधारण-सी दूकान है। दूकान उस मार्गपर है जो मुख्य बाजारको जाता है; अतः उत्सव एवं पर्व आदिके अवसरपर काफी चहल-पहल रहती है।

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी बड़े मंगलके मेलेके शुभ अवसरपर बाजारमें काफी चहल-पहल थी। दोपहरमें भीड़ थोड़ी कम रही, पर शाम होनेपर हजारों लोग हनुमान्‌जीके दर्शन करनेको जा रहे थे और दर्शन करके लौट भी रहे थे। हमने भी अपनी दूकान नित्यसे जरा अच्छे ढंगसे सजायी थी। ज्यों-ज्यों शाम होती जाती थी, दूकानपर भीड़ बढ़ती जाती थी। दूकानपर मैं और भाई साहब, दो ही व्यक्ति थे—पिताजी कहीं गये हुए थे। थोड़ी देर बाद भीड़ जरा कम हो गयी और मैं बैठकर सुस्ताने लगा। तभी देहाती-सा लगने-वाला एक वृद्ध पुरुष आया और उसने मुझसे पूछा—'आप-के पास पटरा (अंडरवियरका कपड़ा) है ?'

मैंने उसे डेढ़ रुपये मीटरके भावका पटरा निकालकर दिखाया तो वह बोला—'भाई ! जरा सस्तावाला दिखाओ। मैं गरीब आदमी भला इतना महँगा कपड़ा कैसे पहन सकता हूँ ?'

मैं हँसा और बोला—'बाबा ! सब चीजोंके दाम तो तेज हो रहे हैं; फिर भला कपड़ा कैसे सस्ता रहेगा ?' फिर भी मैंने उसे सस्तावाला पटरा दिखलाया और उसके पसंद आनेपर, साढ़े चार रुपयेका चार मीटर पटरा उसे दे दिया।

तभी दो-एक ग्राहक और आ गये और मैं उनसे बातें करने लगा। इस बीच उस वृद्ध मनुष्यने एक नोट मुझे दिया और मैंने सीधे उसे गल्लेमें डाल दिया।

नये आये ग्राहकोंको हमारी दूकानकी कपड़ा पसंद नहीं आया और वे शीघ्र ही चले गये। तब मैंने गल्ला खोला और उसमेंसे साढ़े पाँच रुपये निकालकर उस वृद्ध मनुष्यको दे दिये। रुपये अपने हाथमें लेते ही वह मुझे ऐसे देखने लगा, जैसे मैंने कोई भयंकर भूल कर डाली हो।

मैंने उसे यों घूरते हुए देखा तो कहा, 'क्यों बाबा ! क्या बात है ? तुमने दस रुपयेका नोट ही तो दिया था ?'

'नहीं, मैंने दसका नोट नहीं दिया था।' उसने गम्भीर होकर कहा।

'फिर क्या सौ रुपयेवाला नोट दिया था ?' मैंने कुछ व्यंगके साथ मजाकके लहजेमें पूछा।

'नहीं बाबू !' वह मुसकराया। 'न तो मैंने दसका नोट दिया था और न सौका ही। मैंने तो पाँचका नोट दिया था।'

'ऐं ! क्या कहते हो ?' मेरा मुख आश्चर्यसे खुला रह गया और उसने मेरे हाथमें पाँचवाला नोट वापस थमा दिया, फिर बोला, 'हाँ बाबू ! मैंने पाँचका ही नोट दिया था।'

मुझे, उस धनसे गरीब और हृदयसे धनी व्यक्तिके मन-में ईमानदारीकी ऐसी भावना देखकर आश्चर्यसे अधिक हर्ष हुआ और मैं उससे, उसके परिवार-सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछने लगा।

पूछनेपर पता चला कि वह गाँवका एक गरीब किसान है जो खेती-बारी करके अपने परिवारका खर्च चलाता है। उसके पुत्र तो एक भी नहीं है, पर दो पुत्रियाँ अवश्य हैं जिनके विवाहके लिये (पैसा अर्थात् धन बचानेके लिये) ही वह काफी किफायतशारीसे पैसे खर्च करता है।

मैंने जब पूछा, 'बाबा ! जब तुम्हें पैसेकी इतनी अधिक जरूरत है तो फिर तुमने वह नोट रख क्यों नहीं लिया ?

वह तो मेरी गलतीसे तुम्हें मिला था; तुमने उसके लिये बेईमानी थोड़े ही की थी।' इसपर उस व्यक्तिने जो कहा वह समस्त मानव-जातिके लिये एक अनुकरणीय शिक्षा है।

उसने कहा, 'याद रक्खो बाबू! बेईमानीकी शुरुआत चाहे जिधरसे हुई हो, पर उससे लाभ उठानेवाला बेईमान ही कहा जायेगा। बेईमानीका पैसा कभी भी हजम नहीं होता। तुमने जितना भी बेईमानीमें पाया है, उसका कई गुना तुमसे छूटकर रहेगा—इसे मैं जीवनमें भली प्रकार परख चुका हूँ। बेईमानीसे धन कमाकर मिठाई खानेकी अपेक्षा ईमानदारीकी सूखी रोटी खाना ज्यादा अच्छा है।'

मैंने उसे मन-ही-मन हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर नमस्कार करते हुए कहा—'धन्य हो बाबा आप, जो इस गरीबीमें भी ईमानदारी नहीं छोड़ते हो। तुम्हीं लोगोंके बल-पर तो यह दुनिया टिकी है।'

—कुमार 'स्वदेशी'

(४)

देवताकी कृपा

करीब ३० वर्ष पहलेकी सच्ची घटना है। मेरे पिताजी उस समय दाण्डेर जिला पूनामें रहते थे। शनिवारका दिन था। दुपहरके १२ बजे थे। वे मण्डीमें साग-सब्जी लेने गये थे। रास्तेमें एक भयानक पत्थरपर गिर पड़े। बहुत चोट लगी। लोगोंने उन्हें पहिचाना और घर ले आये। इस दुर्घटनामें उनका एक पैर टूट गया। घरमें मेरी फुआजी थीं और उन्हींपर सारी जिम्मेदारी थी। पिताजी उठ नहीं सकते थे। इसलिये उनकी शौच-क्रिया आदि सब बिस्तरमें ही होती थी। एक साल हो जानेपर घरके सभी लोग तंग आ गये और पिताजीकी देखभाल करनेमें टालमटोल करने लगे और उन्हें डाँटने लगे।

पिताजीका मानसिक कष्ट बहुत बढ़ गया। उन्हें जीना भाररूप प्रतीत होने लगा और उन्होंने आत्महत्या करनेकी बात सोची। पैरसे चल नहीं सकते थे। इसलिये आत्महत्याका कोई साधन उन्हें नहीं मिल रहा था। एक दिन रातके ११ बजे आत्महत्याकी बात उनके मनमें बड़े जोरोंसे आयी। बिस्तरके पास एक रस्सी पड़ी थी। उन्होंने पासकी खिड़कीकी छड़से उसका एक छोर बाँधकर दूसरा अपने गलेमें लगाया। वे श्रीभैरवनाथजीके बड़े भक्त थे। उनको भैरवनाथजीकी स्मृति हुई। उन्होंने प्रार्थना की, इतनेमें भैरवनाथजी दिखायी दिये और उन्होंने इनके गलेकी रस्सी निकाल दी और कहा—'बेटा! तू मेरा उपासक है। आज रविवार मेरा दिन है। आजके दिन मैं अपने भक्तोंको मुँहमाँगी चीज दिया करता हूँ। तू मेरा भक्त होकर आत्म-हत्या करने क्यों जा रहा है?'

पिताजीने बड़ी दीनतासे कहा—'महाराज! इतने दिनों-से मेरी जो दुर्दशा हो रही है, उसे आप जानते ही हैं। मेरा पैर अब ठीक होनेसे रहा, फिर मैं जीकर दूसरोंको क्यों तकलीफ दूँ। अब इस दुनियामें मेरा जीना बेकार है।' इसपर भैरवनाथजीने कहा—'बेटा! तेरा यह पूर्व-जन्मके प्रारब्धका भोग था। अब यह समाप्त हो गया। इस बीमारीसे तू जल्दी अच्छा हो जायगा।' पिताजी कहने लगे—'आज ही रातको मैं अच्छा हो जाऊँ तब तो आपकी बात सत्य है।' भैरवनाथजी बोले—'देख, तेरी इच्छा पूरी होगी।' इसके बाद भैरवनाथजी अन्तर्धान हो गये। अन्तर्धान होनेके समय एक साँप आया और उन्होंने साँपको आज्ञा दी कि 'तुम इसके शरीरमें लिपट जाओ और प्रातः-काल होते ही छोड़कर मेरे पास चले आना।' पिताजीके शरीरसे साँप लिपट गया। प्रातःकाल होते ही साँप शरीर छोड़कर चला गया और आश्चर्य कि उनका पैर पूर्ववत् ठीक हो गया।

इस आश्चर्यजनक घटनाकी बात सारे गाँवमें फैल गयी। लोग उन्हें देखने आने लगे। तभीसे पिताजी प्रत्येक रविवारको श्रीभैरवनाथकी पूजा करते हैं और वहाँसे भस्म लाकर घरमें बखेर देते हैं। तबसे आजतक उनको किसी बड़ी बीमारीने नहीं सताया।

—बालकृष्ण रघुनाथ सुपेकर, पूना

(५)

त्यागका महत्त्व

लगभग पचीस-तीस वर्ष पहलेकी बात है। श्रीरामानन्द-जी बहुत अच्छे सफल व्यापारी थे। उनकी पहली पत्नीसे जनार्दन नामक एक पुत्र था। पत्नीके मर जानेपर उन्होंने दूसरा विवाह किया था, उसके मोहनलाल नामक एक पुत्र

था। मोहनलालकी माँ जनार्दनसे बड़ा द्वेष रखती थी और अपने पुत्र मोहनलालपर स्नेह। उसका वह मोहभरा स्नेह इतना बढ़ा हुआ था कि उसके कारण वह औचित्य और सत्यको सर्वथा भूल गयी और दिन-रात जनार्दनकी बुराई करने, उसे डाँटने-डपटनेमें लगी रहती। मोहनलालके मनमें भी उसकी माँने विष भर दिया था, अतएव वह भी बात-बातमें अपने बड़े भाई जनार्दनका अपमान करता, उसको गालियाँ बकता और सदा अनुचित व्यवहार करता। जनार्दनका स्वभाव बड़ा अच्छा था। वह विमाताके द्वारा डाँट-फटकार तथा छोटे भाई मोहनलालके द्वारा गाली-अपमान सहकर भी सदा पिता-माताकी सेवा करता और सदा-सर्वदा छोटे भाई मोहनलालके सुख-हितमें लगा रहता। बदलेमें कभी कुछ नहीं करता-कहता। बड़ी नम्रताके साथ पिताकी आज्ञाके एक-एक अक्षरका पालन करता, उनकी रुचिके अनुसार चलता और घरका तथा व्यापारका सारा कार्य निःस्वार्थ बुद्धिसे सावधानीके साथ सँभालता। इससे पिता उसपर बड़े प्रसन्न थे।

श्रीरामानन्दजीकी पत्नी अपने पतिका मन खराब करनेके लिये झूठी-झूठी बातें गढ़कर सदा-सर्वदा जनार्दनकी शिकायत किया करती। पर रामानन्दजी हँसकर टाल देते। पर जब उसकी तथा उसके पुत्र मोहनलालकी दुर्नीति अत्यन्त बढ़ गयी और वे जनार्दनपर तरह-तरहके झूठे लाञ्छन लगाने लगे, तब रामानन्दजीके मनमें भी कुछ विपरीत भाव उत्पन्न हो गया। इधर मोहनलालका चरित्र भी गिर गया। माँके पास उसके पतिकी दी हुई सम्पत्ति थी, जनार्दनकी माँका गहना भी उसीके पास था। माँ मोहवश मोहनलालको धन देती और वह उसे असत्कार्योंमें उड़ा देता। उसके संगी-साथी भी सब दुराचारी लोग ही जुट गये थे। जनार्दन बहुत नम्रतासे समझाता, पर मोहनलाल उससे उलटे लड़ने लगता और मोहग्रस्त उसकी माँ भी जनार्दनको झिड़ककर कहती कि 'तुम मेरे बेटेको समझाने-टोंकनेवाले कौन होते हो, तुम उससे द्वेष रखते हो, तुम्हें उसका सुख सुहाता नहीं······।' जनार्दन चुपचाप सब सुन लेता। इन सब बातोंसे श्रीरामानन्दजीका मन और बिगड़ गया और उन्होंने सारी सम्पत्ति जनार्दनको देनी चाही। जनार्दनने नम्रतासे अस्वीकार करते हुए अपनी विमाता तथा भाई मोहनलालके प्रति पिताके मनमें स्नेह-सहानुभूति जगानेका प्रयत्न किया।

पर रामानन्दजी अपने मनमें निश्चय कर चुके थे। अतएव उन्होंने जनार्दनको बिना बताये वकीलके यहाँ जाकर एक वसीयतनामा बनाकर रजिस्ट्री करवा दिया। वसीयतनामेमें श्राद्धादिकी कुछ रकमके अतिरिक्त मोहनलाल और उसकी माताको दस हजार रुपये नगद तथा एक सौ रुपये मासिक वृत्ति एवं चार कमरेका एक छोटा-सा घर दिया गया। मोहनलालकी पत्नीका स्वभाव अच्छा था, इसलिये उसे दस हजार रुपये अलग दिये थे। शेष सब मकान, जमीन, जायदाद तथा नगद आदि मिलाकर लगभग बीस लाखकी सारी सम्पत्ति तथा व्यापारका सारा अधिकार जनार्दनको दिया गया था।

श्रीरामानन्दजीने वसीयतनामा विश्वासी वकीलके पास रखकर यह कह दिया कि 'मेरी वृद्धावस्था है, कभी भी देहावसान हो सकता है। मृत्युके पहले किसीसे कुछ नहीं कहना है। पर मृत्युके बाद ही वसीयतनामेके अनुसार सब कुछ कर देना है।' उन्होंने उन वकीलसाहबको तथा अपने एक हितैषी बन्धुको वसीयतनामेके अनुसार कार्य सम्पन्न करानेका अधिकार दे दिया।

कुछ समयके बाद ही रामानन्दजीकी मृत्यु हो गयी। इस बीचमें मोहनलालने माँके अनुचित लाड़-प्यारके कारण सारी सम्पत्ति लुटा दी। अभावकी दशामें कुछ होश भी आया और अपनी बुरी करनीपर बहुत हल्का-सा पश्चात्ताप भी जगा। श्राद्धादिके बाद वकील तथा उन हितैषी बन्धुने वसीयतनामेकी बात कहकर उसके अनुसार लिखा-पढ़ी करा दी। इससे मोहनलाल और उसकी माँको बड़ा दुःख हुआ और उससे भी ज्यादा दुःख हुआ जनार्दनको। जनार्दनकी पत्नी भी बड़ी सहृदया देवी थी, उसको भी बड़ा दुःख हुआ। मोहनलालकी स्त्रीका स्वभाव बहुत अच्छा था। वह अपनी जेठानी तथा जेठमें बड़ी श्रद्धा रखती थी और उसका जेठानीके प्रति बड़ा आदर था। जनार्दनकी पत्नी भी उससे बड़ा स्नेह करती थी। एक दिन जनार्दनकी पत्नीने आँसू-भरे नेत्रोंसे अपने पतिसे कहा—'मोहनलालजी, उनकी माता और पत्नी बड़े ही दुखी हैं। क्या हुआ जो उनसे गलती हुई, घरकी सम्पत्तिमें तो उनका उतना ही अधिकार है जितना हमलोगोंका है। अब हम सुखी रहें, धन-वैभव-

सम्पन्न रहें और 'मोहनलालजी तथा उनकी माता-पत्नी दुःख भोग करें, यह बड़ा अनुचित है। इधर उनका व्यवहार भी ठीक है। आप इसपर विचार करें और सारी सम्पत्तिका आधा-आधा बँटवारा कर दें। मुझसे उनका दुःख सहा नहीं जाता।'

पत्नीकी बात सुनकर जनार्दन गद्गद हो गया। उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। उसने कहा—'मैं धन्य हूँ जो भगवान्ने कृपा करके मुझे तुम-जैसी साध्वी पत्नी दी है। मैं तो स्वयं यही चाहता था। वरं मेरे मनमें तो आती है कि बँटवारा क्यों हो, एक ही घर रहे। सारी सम्पत्ति उनकी ही रहे। हमलोग सँभाल और सेवा करते रहें। हमलोग आज ही माँके पास चलें। आशा है वे हमारी प्रार्थना सुन ही लेंगी।'

जनार्दन पत्नीको साथ लेकर विमाताके पास गया। मोहनलाल और उसकी पत्नी भी वहीं थीं। जनार्दनने रोकर माँसे क्षमा माँगी और माँसे कहा—'माताजी! मुझे आप अपना नौकर समझें, भाई मोहनलाल और आप सब सँभालें। मैं और आपकी यह बहू सेवा करती रहेगी।' और भी बहुत-सी बातें हुईं। मोहनलालकी स्त्री तो शुद्धहृदया थी ही, जेठ-जेठानीके इस व्यवहारसे वह तो आत्मविस्मृत-सी हो गयी। मोहनलालकी माँ तथा मोहनलालका हृदय भी सहसा बदल गया। मोहनलालने भाई जनार्दनके पैर पकड़ लिये, उसकी माँ भी पैरपर गिरने लगी, तब जनार्दनने उसको रोक दिया और उसके पैर पकड़कर रोते हुए कहा, 'माँ! मेरे निमित्तसे ही आपको इतना दुःख हुआ है, इसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ और आशीर्वाद भी। आप मुझे अपना नालायक बेटा समझकर पालिये, पोसिये, मातृ-स्नेह दीजिये।' जनार्दनकी स्त्रीने पैर पकड़कर क्षमा माँगी।

त्याग करते कौन रोकता है? जनार्दनने अपना स्वत्व त्याग दिया। घर ज्यों-का-त्यों रह गया। जनार्दन और मोहनलाल दोनों एक दूसरेसे स्नेह करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। इतना प्रेम बढ़ा कि सब एक-दूसरेको सुखी देखनेमें ही आनन्दका अनुभव करने लगे। त्यागकी अपार महिमा है। त्यागसे प्रेम होता है और प्रेममें ही आनन्द है। स्वार्थसे द्वेष होता है और द्वेषसे विविध दुःखोंका समूह छा जाता है। त्यागसे शत्रु भी मित्र बन जाता है और स्वार्थसे मित्र भी शत्रु! धन्य है त्यागके महत्त्वको।

—बालमुकुन्द जोशी

(६)

आज भी यह स्थिति है

बड़े सुबह ही मैं गाड़ीमें बैठ गया था। अन्ततक बातें ही चल रही थीं। गाड़ीमें बैठकर मैं पुस्तक पढ़ने लगा। दो-एक स्टेशन जानेके बाद अचानक ही याद आया कि टिकिट लेना तो रह ही गया है। मनमें बड़ी परेशानी-सी हो गयी। पकड़े जानेकी नहीं, अपितु अपनी ऐसी इस भूलके कारण। अतः दूसरे स्टेशनपर उतरकर मैंने टिकिट खरीद ली।

मेरे सामनेके पाटियेपर एक जवान बैठा था। बड़े सुन्दर कपड़े पहने था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद ही नयी सिगरेट जला रहा था। उसने भी कहा 'मुझे भी अगले स्टेशनपर टिकिट ले लेनी है।'

'क्यों? क्या आप भी भूल गये हैं?'

'नहीं, मुझे तो गार्ड टिकिट देगा।'

'आप कहाँसे बैठे थे।'

'धंधुकासे' उस भाईने जवाब दिया।

'पर अब आपको गार्ड धंधुकाकी टिकिट कहाँसे देगा?'

'यह तो हमारा रोजका धंधा है। मुझे प्रायः अहमदाबाद जाना पड़ता है और एक रुपया दे देनेपर गांधीग्राम स्टेशनपर गार्ड या टी० टी० मुझे बाहर निकाल देते हैं।'

'आप क्या काम करते हैं।'

'मैं रेवन्यू-विभागमें नौकरी करता हूँ।'

'आप सरकारी अधिकारी होकर इस प्रकारका काम करते हैं, यह उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि आप बिना टिकिट मुसाफिरी करते हैं इससे रेलवेको नुकसान उठाना पड़ता है।'

'तो क्या टी० टी० रुपया न ले? वह लेता है तभी तो मैं देता हूँ?'

'यह बात सच्ची है, पर सरकारने हर स्टेशनपर टिकिट खरीदनेके लिये खिड़की बना रक्खी है, वहाँ टिकिट मिलती है फिर किसलिये आप ऐसा करते हैं।'

'वह लेता है, अतः हम देते हैं।'

'पर इस प्रकार रिश्वत देनेका कोई कारण नहीं, सिवा इसके कि आप अपना रुपया बचानेके लिये देशके एक रुपयेका नुकसान करते हैं। खैर, इन सब बातोंको छोड़कर आप अगले स्टेशनपर टिकिट ले लें'—मैंने सुझाव दिया।

'आप यह कहनेवाले कौन होते हैं?' उन भाईने जरा रोबसे कहा।

पास बैठे हुए एक व्यापारी-जैसे भाईने कहा—'यार छोड़ो न ये व्यर्थकी बातें, आप कोई टिकिट-चेकर तो हैं नहीं?'

'बात सही है, मैं टिकिट-चेकर नहीं हूँ, पर यह देशकी गाड़ी है, अतः मेरी भी है। इसको नुकसान होता है तो वह मेरे देशका नुकसान है। मैं हर डिब्बेमें जाकर यह चेकिंग तो नहीं करता कि किसके पास टिकिट है और कौन बिना टिकिट ही यात्रा कर रहा है, पर यदि कोई बिना टिकिट गाड़ीमें बैठा हो और इसका पता मुझे लग जाय तो सची बात कहनेका तो मुझे अधिकार है ही।'

यहाँ पीछेकी पटरीपर बैठे एक सज्जनने कहा—'ये खद्दरवाले हैं।'

'भाई, इसमें खद्दरवालेका प्रश्न नहीं, जो सत्य हो, वह कहना तो मेरा कर्तव्य है।'

यों जब दूसरोंकी सह मिली तब पहला युवक भी कुछ अधिक जोशमें आ गया, सिगरेटका धूआँ उड़ाते हुए उसने कहा—'जाइये, जो करना हो, कर लीजिये।'

मेरे मनमें इस युवकके प्रति जरा भी द्वेष नहीं था, मनमें यही दुःख था कि 'सरकारी अधिकारी होकर जब ये एक रुपयेके लिये यों करते हैं, तब अपने अन्य व्यवहारोंमें ल… तो न जाने क्या करते होंगे।' अतः मैंने दृढ़तासे कहा—कहती देखिये, आप समझते हैं यह बात ठीक नहीं है। आप हो, इतना तो कहेंगे न कि मैंने इस टी० टी०को धंधुकासे नई अहमदाबाद तक बिना टिकिट मुसाफिरी करनेके लिये एक रुपया दिया है। मैं अगले स्टेशनपर जाकर शिकायत करूँगा।'

दूसरा स्टेशन आते ही वे भाई नीचे उतरे। पीछेवाले डिब्बेमें टी० टी० थे। मैंने पास जाकर कहा—'इन भाईके पास टिकिट नहीं है और ये कह रहे हैं कि इन्होंने आपको एक रुपया दिया है और ये हमेशा ही इसी प्रकार बिना टिकिट मुसाफिरी करते हैं।'

'अरे मिस्टर! इस तरहकी झूठी बात आप क्यों करते हैं? आपने किसको रुपया दिया है? आप जानते हैं कि अभी आपकी यह शिकायत की जाय, आपकी क्या दशा होगी? लाइये टिकिटके पैसे—।'

अब ये भाई टिकिटके पैसे निकालने लगे। सामनेसे गाड़ी आ रही थी—इसलिये यह गाड़ी अभी रुकनेवाली थी। मैं अपने डिब्बेमें आ गया। ऊपरवाली सीटपर एक युवक लेटा हुआ था। उसने पूछा—'टिकिट दिलवा दी?'

'वे स्वयं ले लेंगे।'

'आप दिलवा दें तब बात।'

'भले आदमी, आप सोये-सोये ऐसी बातें कर रहे हो, जरा उतरकर मेरे साथ तो चलते।'

'मुझे ऐसी सेवा नहीं करनी है। यह तो आपके जिम्मे है।'

मैं अपनी जगहपर बैठकर पुस्तक पढ़ने लगा। जब गाड़ी चलनेका समय हुआ तब वह युवक भी ऊपर आया। उसका चेहरा जरा उतरा हुआ था। मेरे देखनेसे उसे क्षोभ न हो, अतः मैं पुस्तकमें मुँह घुसाये पढ़नेमें लगा रहा। उस युवकने लगभग पाँच सिगरेट और फूँक डालीं। मेरे मनमें आया, इस प्रकार घूस देकर जो रुपया, सवा रुपया बचाया जाता होगा, वह सिगरेटके धुएँमें ही चला जाता होगा, यदि यह कुटेव ही न हो तो ऐसा बुरा काम क्यों करना पड़े!

गांधीग्राम आ गया। हम सब साथ ही नीचे उतरे। उस भाईने बड़े संकोचके साथ मुझसे छिपाकर टिकिट दे दी। (अखण्ड आनन्द)

—नवलभाई शाह

परमार्थका सरगम

(परमार्थ-साधनकी सुन्दर कथाएँ और पद)

आकार डबल-क्राउन, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य पैंतालीस पैसे, डाकखर्च १५ पैसे

जीवन एक संगीत है। शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार जो ठीक गाता है, उसका मन जैसे प्रफुल्लित हो उठता है, उसी प्रकार जो मानव अपने जीवनको समस्वर बना लेता है, उसीका जीवन सफल माना जाता है।

इस पुस्तिकामें प्रकाशित आठ कथा-कहानियाँ संकलित की गयी हैं। इन आठों कहानियोंका पठन, श्रवण, मनन एवं तदनुरूप जीवन बनानेसे यह जीवन संगीतमय हो सकता है। इस संग्रहके अन्तमें ३३ पद भी जोड़ दिये गये हैं, इनमेंसे संख्या २६से ३१ तकके पदोंका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है।

रस और भाव

(श्रीराधा-माधव-प्रेमतत्त्व)

(श्रीराधा-जन्माष्टमी सं० २०२२ पर रात्रिको हनुमानप्रसाद पोद्दारका गोरखपुरमें प्रवचन)

आकार डबल-क्राउन, पृष्ठ-संख्या २४, मूल्य पंद्रह पैसे, डाकखर्च ८ पैसे

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु'के ग्राहक भी बनाये जाते हैं—

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय; पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड।
दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क।
पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।
कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—नं० २४/५५, बिरहाना रोड।
वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी; पता—५९/९, नीचीबाग।
हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार।
ऋषिकेश—गीताभवन; पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी—इन पाँच जगहोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी हैं।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि उन्हें कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है। अतः उनके यहाँसे लेनेपर आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)